सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

संस्थापक, सम्पादक तथा संरक्षक

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

इस अङ्क में विशेष लेख

ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि-सिद्धि

वर्ष ८

अंक १२

वार्षिक मूल्य
१० रुपया

एक अंक
१ रुपया

मार्च

तुम अमृत पुत्र हो !

मानव तुम अमृत पुत्र हो ! तुम दरिद्रता के लिए नहीं हो। अखिल आनन्द का भण्डार तुम्हारे अन्दर है और इसको उपलब्ध करने का एक मात्र साधन मनुष्य देह भी तुमको प्राप्त है। अपने गौरव और स्वरूप को पहचानो।

बाहरी दरिद्रता, व्याधि अभाव आदि से व्याकुल मत बनो। इनके कारण अपने को दीन-हीन न समझो। तुम्हारी महत्ता इसी में है कि तुम इनके रहते हुए भी अपने को सुखी और आनन्दित बनाये रहो। (ऋषि-वाणी)

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सवांई एत्मादपुर आगरा।

प्रकाशक :—
श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सवांई, एत्मादपुर
आगरा ।

इस अंक में पढ़िये

लेख	लेखक	पृष्ठ
१. श्रद्धा की देवी	... ऋषि वाणी	१
२. ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि-सिद्धि	योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
३. गीता-ज्ञान (कविता)	श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'	११
४. जगदगुरु	श्री किशोरीलाल शास्त्री, झाँसी	१२
५. योग-दर्शन में ईश्वर	श्री श्रोमप्रकाश पालीवाल	१६
६. अवधूत श्री कृपालानन्दजी	श्री गुरुदेव के सौजन्य से	२१
७. परमात्म-सत्ता की व्यापकता	सु श्री प्रेमवती एम. ए.	२७
८. गुरु-ज्ञानामृत (कविता)	श्री श्रोमप्रकाश श्रीवास्तव	३३
९. योग और आज का युग	श्री वल्लभाचार्य एम. ए.	३४
१०. सिद्धियाँ उनके पाने की विधि और लक्षण	श्री वृजमोहनस्वरूप शर्मा बी.ए.	३८
११. श्री गुरुदेवजी का योग-प्रचार कार्य		४४
१२. अपूर्व फल	टाइटिल का	४

श्री गुरुदेव जी के कार्य्य-क्रम में परिवर्तन

'सिद्धयोग' के पिछले अङ्क में श्री गुरुदेवजी के लाडवा पहुंचने की तिथि १० मार्च ७० ई० प्रकाशित हो चुकी है किन्तु परिस्थितिवश उन्हें इस तिथि में एक दिन का परिवर्तन करना पड़ रहा है। अब श्री गुरुदेव जी १० मार्च ७० के बजाय दिनाङ्क ११ मार्च ७० को लाडवा (जिला करनाल) पहुंच सकेंगे।

संयुक्त सम्पादक
श्री 'दिव्य'

ॐ

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

वर्ष २
अङ्क १२

मार्च
१९७०

"ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदयन् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः" ॥

श्रद्धा की देवी

श्रद्धा धर्मसुता देवी पावनी विश्वभाविनी ॥
सावित्री प्रसवित्री च संसारार्णवतारिणी ।
श्रद्धया ध्यायते धर्मो विद्वद्भिश्चात्मवादिभिः ॥
निष्किञ्चनास्तु मुनयः श्रद्धावन्तो दिवं गताः ॥

श्रद्धा देवी धर्म की पुत्री हैं, वे विश्व को पवित्र एवं अभ्युदयशील बनानेवाली हैं। इतना ही नहीं, वे सावित्री के समान पावन, जगत् को उत्पन्न करनेवाली तथा संसार-सागर से उद्धार करनेवाली हैं। आत्मवादी विद्वान् श्रद्धा से ही धर्म का चिन्तन करते हैं। जिनके पास किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं है, ऐसे अकिंचन मुनि श्रद्धालु होने के कारण ही दिव्य-लोक को प्राप्त हुए।

हमारा विशेष लेख—

ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि-सिद्धि

[योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज]

योग दर्शन के विभूति पाद में समाधि प्राप्ति के अनेक उपायों का वर्णन किया गया है उनमें से समाधि प्राप्ति के लिए भगवान पतंजलि देव ने दो प्रकार के विशेष अधिकारियों का संकेत किया है। अधिकारी इस प्रकार के हुआ करते हैं जिनको जन्म से ही योग ध्यान की प्रतीति हो जाया करती है। वह योगी इस प्रकार के होते हैं उनके जन्म जन्मान्तर के संस्कार प्रबल रहते हैं। केवल बहाना मात्र प्राप्त होते ही योगस्थिति प्रगट हो जाया करती है ऐसे योगियों को भगवान पतंजलि देव ने विदेह और प्रकृतिलीन नामों से अभिव्यक्त किया है। सूत्र इस प्रकार है—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृति लयानाम् ।

सूत्र का मोटा अर्थ इस प्रकार है। विदेह एवं प्रकृति लीन-योगियों को ही जन्म से योग की प्रतीति हुआ करती है। इस पर भाष्य लिखते हुए विविध भाष्यकर्ताओं के भाव, निम्नांकित पंक्तियों में निबद्ध किये जाते हैं।

श्री व्यासदेव जी का महाभाष्य ॥

विदेहनां देवानां भव प्रत्ययः, ते हि स्वसंस्कारमात्रोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीयक मतिवाहयन्ति तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्य पदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार वशाच्चित्तम् इति।

अर्थात्—स्थूल और सूक्ष्म शरीर के भावों का अतिक्रमण करने वाले देव विदेह कहलाते हैं। यद्यपि वह लोग वैराग्य संयुक्त हैं किन्तु फिर भी स्वसंस्कार मात्रोपगेन चित्तेन कैवल्य पदमिवानुभवन्तः, स्वसंस्कारोपग चित्त के द्वारा वह अपने आप को केवली भाव में स्थित समझते हैं। फिर भी तथा जातीयकम् स्वसंस्कार विपाक मतिवाहयन्ति उस प्रकार के अपने संस्कार विपाक का उपभोग करते हैं। इसलिए इस प्रकार के जो देव लोग हैं उनको जन्म धारण करने मात्र से ही योग की प्रतीति हो जाया करती है। और जो लोग साधिकार चेतसि प्रकृति लीने कैवल्य पद मिवानुभवन्ति, ते प्रकृति लया योगिनोभवन्ति। जिन योगियों का चित्त प्रकृति के लीन होने के साधिकार है। वह अवधि पर्यन्त अपने आपको कैवल्य

स्थिति में अनुभव करते हैं। 'यावत्त पुनरा-वर्तेऽभिकारवशाच्चित्तम्' जब तक उनका चित्त अधिकार वश होने के कारण लौट नहीं आता। प्रायः यही भाव सभी भाष्य कारों के हैं। ऐसे योगियों का पुनः पुनरा-वर्तन संसार में होता रहा करता है जब तक ये अपने आपको शुद्ध पद में विलय नहीं कर लेते। किन्तु इनकी हानि कुछ नहीं क्योंकि ये लोग मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं ज्यों ही इनका पूर्व जन्मापेक्षित अभ्यास क्रमशः प्रारम्भ हो जाया करता है। श्रीमद्भ-गवद्गीता के छठे अध्याय में जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण ने समत्व योग का उपदेश दिया। और वह अर्जुन ने सब प्रकार से स्वीकार किया, किन्तु अर्जुन के मन में थोड़ी सी भ्रान्ति हो गई और उस भ्रान्ति के कारण श्री कृष्ण जी से इस प्रकार का प्रश्न कर ही लिया—

अयतिः श्रद्धयोपेतो
योगाच्चलति मानसः।
अप्राप्य योग संसिद्धिं
कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥
कच्चिन्नोभय विभ्रष्टश्छि-
न्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो
विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण
छेत्तुमर्हस्य शेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य
छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

अर्थात् हे श्रीकृष्ण जो श्रद्धा से युक्त हैं योग से जिनका मन विचलित हो गया है। वे लोग योग संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होते हैं। कहीं उभयतो भ्रष्ट होकर ब्रह्ममार्ग में विमूढ़ हुए बीच में ही तो नष्ट नहीं हो जाते इसलिए हे कृष्ण तुम मेरे इस संशय का नाश करो। तुम से बढ़कर इस संशय का छेत्ता मुझे इस संसार में और कोई दिखलाई नहीं देता। भगवान जगदात्मा श्री कृष्ण ने निम्नांकित श्लोकों में अर्जुन के इस प्रश्न का यथावत् उत्तर दिया—

पार्थ नैवेह नामुत्र
विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याण कृत्कश्चि-
द्दुर्गतिं तात गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृता लोका-
नुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे
योग भ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिना मेव
कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके
जन्म यदीदृशम् ॥

अर्थात् हे अर्जुन ऐसे व्यक्ति का यहाँ और परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। कल्याण मार्ग पर चलने वाला कोई भी

व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करता वह पहले पुण्यवान लोकों को प्राप्त करके और लम्बे समय तक वहाँ रह करके पुनः मनुष्य लोक में आकर पवित्र श्रीमानों धन-वानों के यहाँ उसका जन्म हो जाया करता है। या योगियों के ही घर में उसका जन्म होता है। इस प्रकार का भी जन्म प्राप्त करना इस मनुष्य लोक में अति दुर्लभ है। और फिर वहाँ जन्म लेकर के—

तत्र तं बुद्धि संयोगं
लभते पौर्व देहिकम्।
यतते च ततो भूयः
संसिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव
ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य
शब्द ब्रह्माति वर्तते॥
प्रयत्ना द्यतमानस्तु
योगी संशुद्ध किल्विषः।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो
याति परां गतिम्॥

और वहाँ जन्म लेने पर उस साधक को पौर्व दैहिक बुद्धि संयोग पुनः प्राप्त हो जाया करता है उस बुद्धि संयोग को पा करके वह योगी विवश होकर पुनः-पुनः योग संसिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। उस योगी की वह प्रयत्न भी उत्कृष्टोत्कृष्ट ही है। क्योंकि योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के दायरे से कहीं बहुत आगे निकल जाता है। इस प्रकार का प्रयत्न करने वाला योगी संशुद्ध किल्विष हो करके प्रयत्न करते अनेक अनेक जन्मों के पुरुषार्थ से परम गति को पा ही जाता है। यह बात भव प्रत्यय वाले योगियों की हुई। दूसरे वह योगी हैं जिनको उपाय प्रत्यय से योग की प्रवृति हुआ करती है उनके लिए भगवान पतंजलि देव ने सिद्धि प्रदान करने वाले कुछ आवश्यक हृदय में उत्पन्न होने वाले साधनों का संकेत किया है वे इस प्रकार हैं—

श्रद्धावीर्य्य स्मृति समाधि
प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्॥

अर्थात् इतरेषाम् उपाय प्रत्यय शीलानां योगिनां श्रद्धादया साधन भूता भवन्ति। उपाय प्रत्यय वाले योगियों के लिए श्रद्धा-दिक ही प्रमुख साधन बताये गये हैं। इस सूत्र पर भगवान व्यास देव का भाष्य इस प्रकार है—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति, श्रद्धा चेतस-सम्प्रसाद साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति, तस्य हि श्रद्धानस्य विवेकार्थिनो वीर्य मुपजायते, समुपजात वीर्य्यस्य स्मृतिरुपतिष्टते, स्मृ युपस्थाने च चित्त मनाकुलं समाधी यते, समाहित चित्तस्य प्रज्ञा विवेक उपावर्त्तते, येन यथावद्वस्तु जानाति,

तदभ्यासात् तद्विषया च वैराग्याद संप्रज्ञातः समाधिर्भवति ॥

अर्थात् अभ्यास करनेवाले योगियों को उपाय प्रत्यय के द्वारा ही अपने अभ्यास की चरमस्थिति प्राप्त होती है। ऐसे अभ्यासियों के लिए सबसे पहला साधन श्रद्धा है। श्रद्धा के विषय में श्री व्यासदेव जी लिखते हैं। 'श्रद्धा चेतसः संप्रसादः' अर्थात् चित्त की आस्था का नाम ही श्रद्धा है।'सा हि कल्याणि जननीव योगिनं पाति' श्रद्धा माता की तरह योगी की रक्षा करती है और ज्योंही योगी के हृदय में श्रद्धा पैदा हो जाती है त्योंही 'तस्य विवेकार्थिन सत धानस्य वीर्य्यमुपजायते' विवेक ज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा वाले उस श्रद्धावान् योगी को वीर्य पैदा हो जाता है। वीर्य ही योगी का बल है और वीर्य पैदा हो जाने के बाद 'समुपजातवीर्यस्ययोगिनः स्वतिस्मृतिरुप तिष्ठते' स्मृति उत्तिष्ठित हो जाती है। और स्मृति उत्तिष्ठित हो जाने के बाद चित्त निर्विघ्न समाहित हो जाता है।

समाहित चित्तस्य च प्रज्ञाविवेकः उपावर्तते येन यथा तत्वस्तु जनाति,

समाहित चित्त योगी को अपने आप ही प्रज्ञा विवेक प्राप्त हो जाता है। जिसके प्राप्त होने पर योगी वस्तुतः को यथार्थ जानता रहता है। यह बात योगियों के उपाय प्रत्यय की है। उपाय प्रत्यय ही हर व्यक्ति को समान रूप से फलीभूत नहीं हुआ करता। उनमें भी मृदुमध्याधि उपाय वाले योगियों में 'तीव्र संवेगानां मासन्नः समाधि लाभः फलं च भवति। मृदु, मध्य एवं अधि उपाय वाले योगी जब अपनी प्रगाढ़ लगन के साथ अभ्यास में लगते हैं उनमें से भी जो अधिमात्र उपाय वाले एवं तीव्र संवेग वाले होते है उनको शीघ्राति-शीघ्र समाधि फल की प्राप्ति हुआ करती है। इस प्रकार भगवान पतंजलि देव ने समाधि प्राप्त उपायों का वर्णन किया है इसके बाद वहीं पर तत्काल किसी ने प्रश्न कर दिया :—

किमे तस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्ययोऽपि कश्चिदुपायो न वेत्ति।

अर्थात् क्या इससे भी जल्दी किसी प्रकार समाधि हो सकती है और उसके प्राप्त करने का क्या और कोई सरलतम उपाय भी है। इसके उत्तर में भगवान पतंजलि देव ने उत्तर दिया—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा

प्रणिधानात्- भक्तिविशेषादआवर्जित ईश्वरस्तमनुगृहणात्यभिध्यानमात्रेण— तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतम समाधिलाभः फलं च भवतीति।

सूत्र और व्यास भाष्य की पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार है। ईश्वर प्रणिधानात् भक्ति विशेषादावर्जितः ईश्वरः अभिध्यान मात्रेण तमनुग्रहणाति। इदमस्याभिमतं अस्तुरिति अर्थात् भक्ति विशेष से आवर्जित किया

ईश्वर साधक पर अनुग्रह करता है ताकि इसकी प्यारी चीज इसको प्राप्त हो जाय।

तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधि लाभः फलं च भवति।

ईश्वर के ईक्षण मात्र से भी मनुष्य को जल्दी-से-जल्दी समाधि-लाभ हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान से किस प्रकार से समाधि लाभ हो जाता है इससे पहले मैं ईश्वर का लक्षण एवं तद् बोधक नाम प्रणव का यहाँ वर्णन कर देना बहुत ही आवश्यक समझता हूं। ताकि आगे की पंक्तियों में प्रणिधान का स्वरूप भी भली प्रकार समझ में आ जाय। अभी तक योग-दर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि-आदि अन्यान्य उपायों को समाधि का उपाय बतलाया। किन्तु जब जिज्ञासु ने—

किं मेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति।

पूछा क्या इससे भी सरलतम समाधि लाभ का उपाय है तब श्री पतंजलि देव ने—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा

कह करके ईश्वर प्रणिधान को ही समाधि प्राप्ति का सरलतम एवं सुसाध्य उपाय बतलाया। अभी तक योग-दर्शन में प्रकृति पुरुष का ही वर्णन आया था। प्रकृति पुरुष विवेक को ही प्रधानता दी गई थी। किन्तु अब अकस्मात्—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा

कह कर के ईश्वर का वर्णन किया। इसको सुन करके श्रोता जिज्ञासु आश्चर्यचकित सा हो गया और उसने साहसपूर्वक कह दिया—

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति।

अर्थात् प्रकृति पुरुष से अलहदा ईश्वर नाम की वस्तु यह क्या है? इसके उत्तर में भगवान पतंजलि देव ने—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः॥

अर्थात् क्लेश कर्म विपाकादिकों से रहित जो सदा सर्वदा अपरामृष्ट है उसी पुरुष-विशेष का नाम ईश्वर है इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियें—

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणावासना आशयः, ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुष विशेष ईश्वरः।

अर्थात् अविद्यादि क्लेश और अच्छे-बुरे कर्म और उनका फल-विपाक तदनुगुणवासना ये सब-के-सब मन में रहते हुए पुरुष में कहे जाते हैं। और उसी को उनके फलों का भोक्ता मानते हैं। जैसे जय और

पराजय योधाओं में हुआ करती है किन्तु उनके मालिकों की मानी जाया करती है। इसी प्रकार कर्मफल का भोक्ता पुरुष को माना जाता है। वस्तुतः वह सभी प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट होता है। जो सदा सर्वदा सभी प्रकार के भोगों से बिलकुल ही अपरामृष्ट रहा है उसी पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। ईश्वर का लक्षण जब इस प्रकार से बतला दिया गया तब कि उसी समय जिज्ञासु के मन में पुनः प्रश्न पैदा हुआ—

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः कैवलिनः ।

अर्थात् सब प्रकार के भोगों से अपरामृष्ट बहुत से कैवल्य मोक्ष को प्राप्त हुए केवली लोग हैं। क्या वे सभी ईश्वर हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कहा—

ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावि स सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः ।

अर्थात् अन्य जो केवली लोग हैं वह तीनों बन्धनों को काट करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं और ईश्वर के साथ उन तीन बंधनों का संबन्ध न कभी था न कभी होगा—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्

उस ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है अर्थात् उस ईश्वर से बढ़कर के सर्वज्ञ न अबतक कोई हुआ है न आगे होगा। ईश्वर सबसे बढ़कर सर्वज्ञ है। और वह ईश्वर—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्

अर्थात् वह ईश्वर सृष्टि के शुरू में होने वाले हिरण्यगर्भादिकों का भी गुरु है क्योंकि वह काल की हद से परे है। उसका प्रभाव अचिन्त्य है।

भयादस्य अग्निस्तपति
भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च
मृत्युर्धावति पंचमः ॥

गुरु का अर्थ व्यास देव की परिभाषा के अन्दर—

यत्रावच्छेदनार्थेन कालो न उपावर्तते

जिसकी सीमा का उल्लंघन करके अवच्छेदनार्थ काल उपस्थित नहीं होता उसी सत्ता का नाम गुरु है उसी के लिए भगवान पतंजलि देव ने 'पूर्वेषामपि गुरु कालेना नवच्छेदात्' कहकर के उस परम गुरु की परिभाषा लिख दी। इस सूत्र के अर्थ में श्री व्यास जी अपना भाष्य इस प्रकार कहते हैं।

पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते, स एष पूर्वेषा मपि गुरुः, यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथाऽतिक्रान्त सर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ॥

ईश्वर अनादि काल से सिद्ध है इसलिए काल की सीमा से परे रहकर वह पूर्व गुरु

जो काल के अवच्छेदन में आ चुके हैं उन सब का गुरु है। श्री पतंजलि देव जी ने ईश्वर की परिभाषा समझाने के लिए इतने सूत्रों में उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन किया। अब हम उस ईश्वर को आत्म-निवेदन किस प्रकार से करें जिससे वह हमारा अभिमुख हो सके, और हम सब उसके यथार्थ स्वरूप को जानकर अपने अभिहित पदार्थ समाधि को प्राप्त कर सकें। नाम और नामी का अभिन्न संबन्ध रहा करता है। और उसके लिए ईश्वर की प्राप्ति का साधन भूत उसका नाम है। उसका वर्णन करते हुए भगवान पतंजलि देव ने उसके बोधक नाम का संकेत किया—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥

उस ईश्वर का बोधक नाम प्रणव है। प्रणव क्या है इसका बहुत बड़ा वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सभी की सत्ता प्रणव के अन्दर विलीन हो जाती है। हमारे शास्त्रों का कथन है :—

कोटि कोट्ययुतानीशे
चाण्डानि कथितानि तु।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा
ब्रह्माणो हरयो भवाः॥
असङ्ख्याताश्च रुद्राद्या
असङ्ख्याता पितामहाः।
हरयश्चाप्यसङ्ख्याता
एक एव महेश्वरे॥ इति॥

अर्थात् असंख्यात् ब्रह्मा, विष्णु, शिव, एक ही प्रणव में विलीन हो जाते हैं। महेश्वर ही स्वयं प्रणव है।

प्रणवात्प्रभवो रुद्रः
प्रणवात्प्रभवो हरि।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा
प्रणव एव अवशिष्यते ॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तीनों की उत्पत्ति प्रणव से है और इनके बाद में प्रणव ही शेष बच जाते हैं। ओंकार एक इस प्रकार की सत्ता है जो काल की सीमा का अतिक्रमण करके अखिल अंड ब्रह्माण्डों में व्याप्त है। इसलिए प्रणव का जप करते हुए उस परम तत्त्व का ध्यान करते हुए ही हम ईश्वर का अभिमुखीकरण कर सकते हैं। अतः भगवान पतंजलि देव ने आदेश दिया है :—

तज्जपः तदर्थ भावनम् ॥

अर्थात् प्रणव का जप करना चाहिए। और प्रणवाभिधेय पर पुरुष का ध्यान करना चाहिए। तभी उसका परिणाम सामने आयेगा। इसी लिए हमारे शास्त्रों का आदेश है :—

स्वाध्यायद्योगमासीत
योगात्स्वाध्याय मामनेत्।
स्वाध्याय योग सम्पत्त्या
परमात्मा प्रकाशत॥

स्वाध्याय से योग प्राप्त हो और योग से स्वाध्याय का मनन करे, स्वाध्याय और योग दोनों की शक्ति से परमात्मा का प्रकाश हो

जाता है। प्रणव के जप का आदेश देते हुए भगवान् पतंजलि देव ने 'तज्जपः तदर्थभावनम्' कह करके प्रणव जाप के साथ-साथ प्रणवाविधेय ईश्वर के ध्यान करने की भी विशेष रूप से आज्ञा प्रदान की है। बात जैसी की तैसी सार्थक है ऊपर के श्लोक में स्वाध्याय और योग की संपत्ति से परमात्मा का प्रकाशत्व होना वर्णित है। ईश्वर प्रणव का जप करना और प्रणवाविधेय का फल भगवान् पतंजलि देव ने अपने शब्दों में स्पष्ट रूप से कह दिया कि—

ततः प्रत्यक् चेतनाधि-
गमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥

अर्थात् प्रणव का जप करने एवं प्रणवाविधेय ईश्वर का ध्यान करने से परिणाम स्वरूप प्रणवाविधेय प्रत्यक्चेतनाधिगम एवं अन्तराय निवृत्ति का निर्देश किया। और इसी प्रकार का संकेत करते हुए श्री मद्भगवद्गीता में जगदात्मा श्रीकृष्ण ने भी बिलकुल सीधे और स्पष्ट शब्दों में कह दिया—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं
स याति परमां गतिम् ॥

अर्थात् ॐ इस एक अक्षर का उच्चारण करता हुआ और मेरा ध्यान करता हुआ, जो शरीर छोड़ता है वह परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि प्रणव का जाप करने से एवं प्रणवाविधेय का ध्यान करने से ही मनुष्य परम गति को प्राप्त हो जाता है। इन सभी प्रमाणों से यह प्रमाणित हुआ कि मनुष्य को स्वाध्याय और योग ही ईश्वरकी ओर अभिमुख करनेका मुख्य साधन है। जो मनुष्य अनवरत स्वाध्यायशील रहता है एवं ईश्वर के प्रमुख नाम प्रणव का जाप करता है वह अपने अभ्यास बल से अल्प समय में ही ईश्वर को अभिमुख कर लेता है। और ईश्वराभिमुख के परिणामस्वरूप समाधि को पा जाता है। तभी उसकी सब प्रकार की अन्तराय निवृत्ति एवं पाप नाश हो जाया करता है। शास्त्रीय प्रवचन है कि—

योगाग्निर्दहति अशेषं पाप पंजरम्।

यही ध्यानयोग का निर्मल तेज है जिससे सब प्रकार का पंजर नष्ट हो जाया करता है। ध्यान बिन्दोपनिषद् का वचन है यदि—

शैले समं पापं
विस्तीर्णं बहु योजनम् ।
भिद्यते ध्यान योगेन
नान्यो भेदः कदाचन ॥

यदि पापोंका पहाड़का पहाड़ भी हो तो वह ध्यानयोग के द्वारा नष्ट किया जा सकता है। उसको नाश करने का दूसरा अन्य कोई सबल साधन नहीं है। रामायण आदि में इस प्रकार के बहुत से प्रकरण मिलते हैं, जिनमें भगवान् श्रीराम ने अपने मुख से स्पष्ट यह कह दिया है कि जीवके सम्मुख होते ही उसके करोड़ों जन्मों के पापों को तत्काल नष्ट कर दिया करते हैं। जैसे कि लंका काण्ड

में जिस समय विभीषण श्रीराम की शरण में आया, और उसके राक्षस होने पर शरण होने में कुछ शंकायें उपस्थित की गई वहाँ पर भगवान् श्रीराम ने विभीषण को निर्भीकता प्रदान करते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया —

कोटि विप्र बध लागेहि जेही।
आये शरण तजहुँ नहिं तेही॥
सन्मुख होहि जीव मोहि जबहीं।
कोटि जन्म अघ नासहिं तबहीं॥

अर्थात् ईश्वर के सन्मुख होते ही उसके अनन्त करोड़ों पापों का नष्ट हो जाना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार सूर्योदय हो जाने के बाद अन्धकारका नाश हो जाना स्वाभाविक हुआ करता है। वैसे तो जीव ईश्वर के सन्मुख हर समय रहता ही है। किन्तु अभिमुखीकरण का सीधा और स्पष्ट अर्थ यही है कि वह ईश्वरीय तेज का स्पष्ट अनुभव करले और अनवरत करता ही चला जाये तो अवश्य ही वह जीव ईश्वरीय तेज को पाकर तन्मय हो जायेगा, एवं सिन्धु में बिन्दु की तरह से अपनी आत्म-सत्ता को परमात्म सत्ता में सदा सर्वदा के लिए विलीन कर देगा। 'समाधि शब्द का अर्थ भी 'समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मनः' अर्थात् जीवात्मा परमात्मा की एकावस्था का ही नाम समाधि है। जब मनुष्य परमगुरु ईश्वर को सर्व कर्मार्पण करके अपने आप को न्यौछावर कर डालता है तभी ईश्वर का यह संकल्प होना कि 'इदमस्याभितमस्तु' यह स्वाभाविक ही है इसी लिए भगवान पतंजलि देव ने ईश्वर-प्रणिधान को अन्य श्रद्धा-वीर्य स्मृति समाधि आदि साधनों की अपेक्षा सरलतम साधन माना है इसीलिए :—

समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्

ईश्वर प्रणिधान को ही अदीनतापूर्वक सुलभ साधन बतलाया, ईश्वर प्रणिधान में साधक को कोई किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता प्रत्युत प्रेमपूर्वक उनका अनन्य-चिन्तन एवं सर्व कर्मार्पणता ही उसकी सफलता का सफल साधन बन जाता है। ईश्वर-प्रेमी किसी से बात नहीं करना चाहता, किसी से विवाद नहीं करना चाहता, उसकी वृत्ति रहती है :—

सुनत न काहू की कही।
कहत न अपनी बात॥
नारायण वा रूप में।
मगन रहत दिन रात॥

ऐसा साधक ही प्रणवाभिधेय को प्राप्त करके निहाल एवं कृतार्थ हो जाया करता है।

गीता-ज्ञान

[गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर' शङ्कर निवास झाँसी सिटी (उ०प्र०)]

अविनाशी है आतमा, नश्वर-नर, नर देह ।
युग-युग यह क्रम नियतिका, निश्चित निस्संदेह ॥
आत्म-शुद्धि हित चाहिए, गुरु-गीता का ज्ञान ।
जिससे जग-जीवन बने, साधक सिद्ध समान ॥
इन्द्रिय, तन, मन, बुद्धि पर, रखकर पूर्ण प्रभुत्व ।
समझें जन-जन योग से, आत्म-शुद्धि के तत्व ॥
ईश्वर केवल एक है, भिन्न-भिन्न हैं नाम ।
दृढ़ रहकर निज इष्ट पर, साधक साधे काम ॥
उठें न उर अविवेक-वश, अहङ्कार, अविचार ।
परोपकार उत्तम यही, यही ज्ञान का सार ॥
ऊँच-नीच की भावना, रखना घोर अनर्थ ।
जग - जन - जन में एक ही, है वह ब्रह्म - समर्थ ॥
ऋण ले जितना जगत से, दे दूना कर दान ।
उऋण रहे जिस से सदा, यही उच्चतर - ज्ञान ॥
एक ब्रह्म सब सबमें रमा, रखते जो यह ध्यान ।
करें नहीं वे अन्य का, अनहित अरु अपमान ॥
ऐच्छिक-फल पाता वही, जो साधक मति मतिधीर ।
अंतरात्मा से द्रवें, देख परायी - पीर ॥

जगद्गुरु

श्री किशोरीलाल शास्त्री (झांसी)

—•×०×•—

जगद्गुरु शब्द सुनकर या 'पुस्तक' में पढ़ कर प्रत्येक व्यक्ति के मन में उसके प्रति श्रद्धा और सम्मान की भावना उत्पन्न हो ही जाती है क्योंकि शब्द विद्युत् (बिजली) बहुत तीव्र प्रभाव वाली होती है, इसके समर्थन के लिये किसी यंत्रशालाके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है-क्योंकि भौतिक प्रयोग शालायें जड़ वस्तुओं का ही परीक्षण वास्तव में कर सकी हैं। यद्यपि भौतिक विज्ञानवादी वैज्ञानिक लोग इस समय चैतन्य विज्ञान की भी खोज में अग्रसर हुए हैं और वे आगे चलकर उसमें सफलता भी प्राप्त करने में समर्थ हो जावेंगे परन्तु जब उपकरणों से नहीं, उन्हें मन का ही सहारा लेना पड़ेगा। आज भी जड़-यंत्रों में शब्द की चैतन्य शक्ति का अंकन किया जाने लगा है, जिसे रेडियो, टैलीविजन, आदि नामों से पुकारा जाता है।

इस 'शब्द शक्ति' का प्रत्यक्ष अनुभव प्रत्येक चैतन्य प्राणी प्रति पल करता रहता है। जब हम किसी से प्रेम भरे शब्द बोलते हैं तब उसका मन तथा शरीर प्रफुल्लित होकर कई गुनी शक्ति प्राप्त करता है और जब शासन के भाव में बोलते हैं तब कार्य तो वह करता है परन्तु कार्य क्षमता घट जाती है. इसी प्रकार जब क्रोध में अपशब्द बोलते हैं तब यद्यपि बुझने वाले दीपक की तरह शक्तियों में उत्ते-जना आती है परन्तु वक्ता-श्रोता दोनों की चैतन्य ज्ञान शक्ति क्षीण हो जाती है और क्रोध शान्त होने पर अपने आप थकावट सी मालूम पड़ने लगती है। इसी प्रकार करुणा-पूर्ण शब्द सुनकर स्वयं भी करुणा से द्रवीभूत हो जाते हैं।

यह शब्द का प्रभाव चराचर सभी प्राणियों पर होता है यहां तक कि जड़ पदार्थों पर भी होता हुआ देखा गया है जिसका अनुसंधान वर्तमान वैज्ञानिक लोग कर रहे हैं। हमारे भारतवर्ष में तो यह अनुसंधान पहिले ही हो चुका है। करुणरस के प्रधान प्रस्तोता कविवर भवभूति जी अपने श्रेष्ठ नाटक "उत्तरराम-चरित" में इसका स्पष्ट उल्लेख कर रहे हैं।

जिस समय (राजा प्रकृतिरंजनात्) इस शब्द की सत्य परिभाषा को सार्थक करने के लिये परम प्रजावत्सल श्रीराम ने चक्रवति सिंहासनारूढ़ होते हुए अपनी सर्व शक्ति सत्ता का त्याग कर प्रजा में उत्पन्न हुए अनर्गल दुष्ट भाव को निकालने के लिए एक तृण समान असमर्थ मानव की बात सुनकर अपनी गर्भवती प्राण प्रिया जानकीजी को बनवास दिया उस समय वन में श्रीसीता जी के करुण-क्रन्दन का जड़ पत्थरों पर भी प्रभाव हुआ

था, वे भी रोते थे, उस करुण-ध्वनि से वज्र का भी हृदय विदीर्ण हुआ है जिसको अनुभव कर कवि का हृदय भी परवश बोल ही उठा:-

"अपि ग्रावा रोदित्यपि
दलित वज्रस्य हृदयम्"

इसी प्रसंग में कवि ने हृदय की परस्पर अत्यंत विरोधी भावनाओं का ऐसा सजीव प्रभावशाली उल्लेख किया है जो इस शब्द-शक्ति के आश्चर्यमय प्रभाव को स्पष्ट अनुभव कराता है—

वज्रादपि कठोराणि,
मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि,
कोहि विज्ञातुमर्हसि॥

इसमें 'शब्द शक्ति' के द्वारा कुसुम मृदु हृदय का वज्रतुल्य कठोर हो जाना बताया गया है। जो हृदय दुष्ट शब्द की दुर्भावना शक्ति के द्वारा प्रजा में फैलने वाले विप्लव से संभव प्रजा के भावी अकल्याण से द्रवीभूत होकर तिलमिला उठता है, वही हृदय प्रजा के उस भावी अकल्याण का प्रतीकार करने के लिये द्वितीय क्षण में ही प्राण प्रिया सीता का परित्याग करने के लिये वज्र से भी कठोर हो जाता है।

इसी प्रसंग का अनुभव करके ही श्री महात्मा गांधीजी भारतवर्ष में 'राम राज्य' स्थापित कर प्रजा को पूर्ण सुखी देखना चाहते थे। श्री गांधीजी का हृदय भी मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम जी के हृदय के समान था जिसकी कई अनुभूतियां उनके जीवन चरित्र में हैं।

यही 'शब्द-शक्ति' प्रत्येक व्यक्ति के मन में जगद्गुरु (जगत पूज्य) बनने की भावना को जन्म देती है और प्रेरणा उत्साह भी प्रदान करती है। परंतु सभी जगद्गुरु नहीं बन पाते, क्योंकि जगद्गुरु बनने के लिये आप को भी जगत् का बनना पड़ेगा।

प्राचीन काल से जगद्गुरु का पद मानवों में केवल योगी, त्यागी, तपस्वी ब्राह्मणों को ही प्राप्त हुआ चला आता है, क्योंकि ये ही त्याग तपस्या की मूर्ति रहे हैं, यद्यपि योगाभ्यास और तपस्या दूसरे वर्ण भी करते थे पर उनमें त्याग नहीं था, उनकी अध्यात्मशक्ति का लाभ सार्वजनिक नहीं हो सक्ता, यदि कोई बिरला त्यागी बना भी तो वह केवल अपनेही उद्धार में लग गया, यह बात ब्राह्मण वर्ण में नहीं होती, ये तो संसार की समृद्धि में ही सुखी होते हैं, किसी व्यक्ति विशेष की में नहीं। इनमें तो प्रारंभ से ही विश्व-कल्याण और कठिन तपस्या के भाव भरे जाते हैं।

ब्राह्मणस्य शरीरोयं,
सुखभोगाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह,
प्रेत्यानन्त सुखाय च॥

इस संस्कार का ही यह परिणाम जो है ब्राह्मण सर्वदा यही कामना करता है कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः,

सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु,
मा कश्चित् दुःख भाग्यवेत्॥

यह कामना ब्राह्मण को ब्रह्मत्व प्रदान करती है और जगद्गुरु बनने की शक्ति प्रदान करती है। इस सच्ची सदा आचरित उदार भावना को देख कर ही प्रथम सम्राट मनु जी ने अपने सर्वजनीन नीति-शासन के ग्रंथ "मनुस्मृति" में ब्राह्मण को ही सारे विश्व का अधिपति माना है, और उसकी ही उदारता से विश्व को सुखभोग प्राप्त हुआ माना है यथा :—

सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं,
यत्किंचिज्जगती गतम्।
आनृशंस्याद् ब्राह्मस्य,
भुंजतेहीतरे जनाः॥

परन्तु यह सब अधिकार उन्हीं ब्राह्मणों को प्राप्त हुआ है जिनकी गर्भस्थ संतान भी ब्रह्मज्ञानी तथा योगी होती थी। श्री वेद व्यास जी के पुत्र श्री शुकदेव अवधूत प्रथम तो गर्भ से ही बाहर नहीं आना चाहते थे, बड़ी अनुनय-विनय करने पर यदि बाहर आये भी तो पृथ्वी का स्पर्श करते ही माता-पिता का मोह छोड़ कर नाल लपेट कर भाग खड़े हुए। यद्यपि पिता व्यास जी ने मोह वश बड़े कातर भाव से हे पुत्र, हे पुत्र पुकारते हुए इनका पीछा किया, परन्तु वे नहीं लौटे।

इसी प्रकार अष्टावक्र जी ने तो गर्भ में रहते हुए ही पिता को कई बार अध्यात्मचर्चा करते हुए हूं हूं कहकर मना किया जिससे कुपित होकर पिता ने इन्हें शाप दे दिया और ये गर्भ में ही टेढ़े हो गये जिससे इनका यह नाम पड़ा। बाद में विदेह राजा जनक के यहां अवरुद्ध हुए अपने पिता सहित सभी मुनियों को इन्हीं अष्टावक्रजी ने ब्रह्मज्ञान के शास्त्रार्थ में जनकजी को हराकर छुड़ाया था। जनकजी ने अष्टावक्र जी को आठ अंगों में टेढ़ा देखकर हंस दिया। बस यही उनकी हार होगई क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को शरीर के विकास से क्या प्रयोजन? वह सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करता है। निर्विकल्प समाधि सिद्ध होने पर ही ब्रह्मज्ञान होता है। परन्तु निर्विकल्प समाधि सभी को सिद्ध नहीं होती। वह तो (यमेवैषवृणुते तेनलभ्यः) इस श्रुति के अनुसार उसे ही सिद्ध होती है जिसे वह अहैतुक कृपा करने वाला परमात्मा अपने पास बुलाना चाहता है। इन्हीं योगीश्वरों के प्रभाव से ही ब्राह्मण जगद्गुरु है।

परन्तु है वही ब्राह्मण जगद्गुरु है जो यथार्थ में ब्राह्मणों के धर्म शास्त्रोक्त कर्त्तव्य का सम्यक् आचरण करता है। जो ब्राह्मण क्षात्र वृत्ति, वैश्य वृत्ति या शूद्र वृत्ति करता है वह कदापि जगद्गुरु पद का प्रत्याशी नहीं हो सकता। अधिकारी बनना तो संभव भी कैसे होगा। एक और भी विशेष बात ध्यान में रखने की है कि जो ब्राह्मण धर्म शास्त्रोक्त कर्त्तव्यों का यथावत् पालन भी करता है परन्तु यदि उसमें सत्य, धृति क्षमा और अलोभ

ये चार बातें आचरण में नहीं है तो वह कदापि महत्पद पाने का अधिकारी नहीं हो सकता और यदि उसे हठात् महत्पद दिया जायगा तो प्रथम तो वह उसे स्वीकार ही नहीं करेगा और यदि जबरन महत्पद पर बैठा ही दिया गया तो वह उसका संचालन तथा सम्मान नहीं रख सकेगा। जैसा कि लोक में बराबर देखा जा रहा है क्योंकि शास्त्रोक्त आचरण लोग दिखावे के लिये भी करते हैं, जिससे जनता उनका सम्मान करे :—

इज्याध्ययन दानानि ,
तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं ,
धर्मस्याष्ट विधः स्मृतिः ॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो ,
दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो ,
महात्मन्येव तिष्ठति ॥

इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण रावण है वह चारों वेदों छहों शास्त्रों का पूर्ण विद्वान था, यहां तक कि उसने ही श्री रामचन्द्रजी का आचार्य बनकर श्री रामेश्वर महादेवजी की प्राण प्रतिष्ठा कराई थी, हजारों वर्ष तपस्या कर विश्व विजयी बन गया। परन्तु उसमें उपरोक्त चारों बातें —

१ सत्य, २ धृति, ३ क्षमा, ४ अलोभ ये नहीं थे इससे वह जगद्गुरु की कौन कहे सामान्य ब्राह्मणत्व से भी गिर गया और राक्षस कहलाने लगा। अतएव योग-सिद्धि के साथ योग के प्रारंभिक अंग यम-नियमों का होना भी परमावश्यक है तभी योगी जगत का कल्याण कर सकेगा, अन्यथा नहीं। यह सब बातें श्रीकृष्ण जी में पूर्ण रूप से विद्यमान थीं इसी से उन्हें जगद्गुरु कहा गया है—वे वर्ण व्यवस्था के व्यवस्थापक हैं :—

"श्री कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्"

एकान्तवासी मुनि

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः ।
यत् सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः ॥

जो सुख एकान्तवासी मुनि को होता है वह सुख न तो चक्रवर्ती राजा को होता है और देवताओं के राजा इन्द्र को ही होता है।

योग-दर्शन में ईश्वर

श्री ओमप्रकाश पालीवाल

हमारे संस्कृत-साहित्य में छः दर्शन छः ऋषियों के बनाये हुये है। उनमें योगदर्शन महर्षि पतंजलि का है। प्रायः सभी ऋषियों ने तीन तत्त्व मुख्य माने हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। अवश्य ही, सबने सबका मुख्य रूप से प्रतिपादन नहीं किया है। अपने-अपने प्रतिपाद्य विषय पर ही विशेष जोर दिया है, परन्तु सबको एक साथ मिलाकर पढ़ने से तत्त्व एक ही निकलता है।

अद्वैत-वेदान्त, जीव और प्रकृति को गौण मानकर, जो कुछ दृश्य और अदृश्य है, सबको ईश्वर ही मानता है। सांख्य शास्त्र के प्रणेता कपिल मुनि ईश्वर को न मानकर जीव और प्रकृति दो को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, और भगवान् पतञ्जलि तीनों का प्रतिपादन करके जीव और ईश्वर दोनों को मुख्यता प्रदान करते हैं, और फिर उनमें भी ईश्वर को ही मुख्य मानते है।

भगवान् पतञ्जलि जी ने मनुष्य को पूर्ण बनाने के लिये तीन शास्त्रों की रचना की है—१—योग दर्शन २—व्याकरण महाभाष्य और ३—राजमृगांक इत्यादि आयुर्वेद के ग्रन्थ। मन-बुद्धि और शरीर तीनों की जब शुद्धि हो तभी मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है, अतएव भगवान् पतञ्जलि ने मन को शुद्ध करने के लिए योग, वाणी को शुद्ध करने के लिए पाणिनि-महाभाष्य और काय-शुद्धि के लिये वैद्यक के ग्रन्थ रचे। यों तो देखने में ये तीनों बातें अलग-अलग दिखाई देती हैं, पर तीनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। अस्तु——

'योग' शब्द का अर्थ है—जोड़ना या मिलाना। इस शब्द का उच्चारण करते ही द्वैत की भावना आती है—अर्थात् जहाँ दो अथवा दो से अधिक चीजें होंगी, वहीं वे आपस में जोड़ी जायेंगी। अतएव पतञ्जलि ऋषि द्वैत को मानकर चलते है—यह बताने की आवश्यकता नहीं। जीवात्मा का परमात्मा से संयोग—यही योग का अर्थ है।

याज्ञवल्क्य ऋषि का कथन है—'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्म परमात्मनोः।' अर्थात् जीवात्मा और परमात्माके संयोगको ही योग कहना चाहिये। यही मनुष्य का परम और चरम सीमा का पुरुषार्थ है। भगवान् पतञ्जलि ने योग का लक्षण इस प्रकार किया है—

'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। इससे चित्त की समावस्था, अर्थात् 'समाधि' अवस्था प्राप्त होती है। महर्षि पतञ्जलि जी ने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ये दो भेद योग या समाधि के किये हैं, इसी प्रकार चित्त का स्वभाव तीन प्रकार का माना है—प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति, देखे अथवा सुने

हुये पदार्थों का मन में विचार करते रहना 'प्रख्या' है फिर उन विषयों से सम्बन्ध करना 'प्रवृत्ति' है और फिर उन विषयों में स्थिति होना मन की 'स्थिति' है। प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुणों के अनुसार चित्त-वृत्तियों की अनन्त शाखायें फूटती हैं। जब चित्त की वृत्ति सत्त्वगुण से अधिक संयुक्त होती है तब मन केवल ईश्वर का चिन्तन करता है, जब तमोगुण से युक्त होती है तब अधर्म, अज्ञान और विषयासक्ति का चिन्तन करता है। और जब शुद्ध रजोगुण चित्त में अधिक हो जाता है तब मन, धर्म और वैराग्य का चिन्तन करता है। इस पिछली अवस्था को योगीजन 'परंप्रसंख्यान' कहते हैं। इस अवस्था में चित्त करीब-करीब सत्त्वगुण के पास पहुँच जाता है।

जो ज्ञान शक्ति परिणाम से रहित और शुद्ध होती है, वही सत्त्वगुण प्रधान है। उस वृत्ति में तम और रज का अभाव हो जाता है। चित्त वृत्ति एकाग्र होकर एक सत्त्वगुण के के आश्रय से रहती । बाह्य विषयों की ओर ध्यान जाता है, पर चित्त उनमें रमता नहीं। यह सम्प्रज्ञात योग है। परन्तु जब सत्त्वगुण के संस्कार भी नहीं रहते, केवल मात्र एक आत्मरति की ही अवस्था प्राप्त होती है—जीव आत्म-चिन्तन में ही मग्न रहता है, उस दशा को निर्विकल्प समाधि या असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। असम्प्रज्ञात का अर्थ ही यह है कि जहाँ एक मात्र ध्येय (ध्यान करने योग्य यानी ईश्वर) के अतिरिक्त किसी विषय का ज्ञान अथवा भान न हो।

अच्छा, अब जिस ईश्वर की उपासना से हमारा परम कल्याण है, उसका स्वरूप क्या है? ईश्वर का क्या लक्षण है कि जिससे हम उसको पहचाने? भगवान् पतञ्जलि अपने योग दर्शन में बतलाते हैं—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः'

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से निर्लिप्त जो पुरुष विशेष है, वही ईश्वर है। क्लेश पाँच प्रकार के हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचों क्लेशों में अविद्या ही मुख्य है।

अविद्या के ही कारण अन्य दुखों की उत्पत्ति होती है। इन पाँचों क्लेशों से ईश्वर अलग है।

कर्म तीन प्रकारके हैं-पुण्यात्मक, पापात्मक व पाप-पुण्य मिश्रित। इनका विपाक अर्थात् शुभाशुभ फल, और उनका आशय अर्थात् शुभाशुभ कर्मों की वासनाएँ, इन सबसे भी ईश्वर अलग है।

उपर्युक्त अविद्यादि क्लेश, कर्म विपाक और आशय जीव में माने जाते हैं अविद्या इत्यादि से जीव को दुख होता है। वेदोक्त विधि-निषेधात्मक कर्मों में जीव फँसता है और उनके विपाक, जन्म, आयु और भोग भी जीवात्माओं को प्राप्त होते हैं। और इन भोगों का आशय या संस्कार या वासनाएँ भी जीव के साथ लगी रहती हैं। यों तो

जीवात्मा भी चेतन, शुद्ध बुद्ध, नित्य और निष्कलंक है, परन्तु मनुष्यों के चित्त में जो क्लेशादि होते हैं, वे जीव में ही आरोपित किये जाते हैं। जीव उनसे निर्लिप्त नहीं है। ईश्वर इन सब बातों से अलग 'पुरुष-विशेष' है। पुरुष से उसको विशेष विलक्षण बतलाया गया है। 'पुरुष' जीव को भी कहते हैं और ईश्वर को भी। शरीररूपी पुर का स्वामी होने से जीव पुरुष कहलाता है और सम्पूर्ण जगत्‌रूपी पुर का एकमात्र अध्यक्ष होने से ईश्वर भी पुरुष कहलाता है, परन्तु दोनों में भेद इतना ही है कि एक उपर्युक्त उपाधियों में लिप्त है, तो दूसरा सबसे बिल्कुल निर्लिप्त है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य
नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

अर्थात् जीव और ईश्वर दोनों पक्षी सुन्दर सामर्थ्य से युक्त हैं और व्याप्य-व्यापक रूप में बिल्कुल एक दूसरे से मिले हुये हैं और समान ख्याति वाले नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हैं अतएव मैत्री धर्ममें रत हैं और प्रकृति रूप एक ही वृक्ष पर दोनों प्रेम से रहते हैं परन्तु भेद इतना ही है कि इनमें से एक अनादि काल से प्रवृत्त कर्मपाश में बद्ध होने के कारण, उस वृक्ष के शुभाशुभ कर्मों के फल को यथावत् भोगता है और दूसरा कर्म विपाक से सर्वथा निर्लेप रहकर अपना सर्वज्ञता से उस जीवात्मा के कर्मों का साक्षी रूप रहता है। यही ईश्वर का ऐश्वर्य है। भगवान् पतञ्जलि कहते है—

"तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्"

अर्थात् ईश्वर में निरतिशय सर्वज्ञता का बीज है। अर्थात् वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और जितना कुछ दिखाई देता है, वह भी सब उसी में है। और जैसे सूर्य स्वयं प्रकाश स्वरूप है, और जितना कुछ प्रकाश जगत में है, वह भी सब सूर्य ही से है। ईश्वर की परमावधि सर्वज्ञता का बीज, सृष्टि की रचना, धारण और संहार की शक्ति में मालूम होता है। सर्वज्ञता से केवल उसके अनन्त ज्ञान का ही लक्षण नहीं है, बल्कि उसकी स्वाभाविक ज्ञान बल की क्रिया का भी इसी सर्वज्ञ बीजत्व में अन्तर्भाव है। क्योंकि बिना क्रियाशीलता के केवल ज्ञान कोई चीज नहीं है। सृष्टि के सृजन, धारण और संहार में ईश्वर की जो अनन्त क्रियाशीलता देखी जाती है उसी की ओर पतञ्जलि मुनि ने अपने उपर्युक्त सूत्र में निर्देश किया है

अब ईश्वर का अन्य लक्षण पतञ्जलि मुनि बतलाते हैं :—

"स पूर्वेषामपि गुरुः।
कालेनानवच्छेदात् ॥"

अर्थात् पूर्व काल में ब्रह्मादि जितने ऋषि-मुनि और ज्ञानी हो चुके हैं वह सब का दादा गुरु है। वह काल में बंधा नहीं है अनादि अनन्त है।

भगवान् मनु ने कहा है—

अग्नि वायुरभ्यिस्तु,
त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञ सिद्धयर्थ,
मग्यजुः साम लक्षणम्॥

ब्रह्माजी के पीछे विराट, फिर वशिष्ठ नारद, दक्ष, प्रजापति स्वायम्भुव मनु आदि हुये। इन सब ऋषियों के मन में परम्परा से ईश्वर ने ही अपने ज्ञान का प्रकाश किया है। उसी से सब ऋषि उत्पन्न हुये और उसी ने कृपा करके उनको ज्ञान भी दिया।

इस प्रकार वह हमारा उत्पादक हमारा ज्ञानदाता और हमारे पूर्वज गुरुओं का गुरु है। उसको हम कैसे जानें? भगवान् पतञ्जलि कहते हैं:—

'तस्य वाचकः प्रणवः'

अर्थात् उसका वाचक प्रणव, अर्थात् ओंकार (ओ३म्) है, ईश्वर वाच्य है। और प्रणव ओंकार उसका वाचक यानी बतलाने वाला है। प्रणव का अर्थ है कि जिसके द्वारा उत्तम रीति से स्तुति की जाय अथवा जो उत्तम रीति से स्तुति दर्शावे, उसे भी प्रणव कहते हैं। ओ३म् और ईश्वर का वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध नित्य अनादि है। इस संकेत से उसे प्रकाशित किया जाता है, किन्तु बनाया नहीं जाता। जैसे पिता और पुत्र का सम्बन्ध कोई बनाता नहीं है। यह स्वाभाविक सम्बन्ध है। केवल संकेत मात्र किया जाता है कि यह पुत्र और यह उसका पिता है।

ओ३म् ईश्वर का सर्वोत्तम नाम है। इसमें ईश्वर के सभी गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है इस प्रकार प्रणव ईश्वर-वाचक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है। शब्द के पीछे-पीछे अर्थ दौड़ता है इसीलिये हमारे साधु-सन्तों ने नाम की बड़ी महिमा गायी है। बिना नाम के रूप नहीं जाना जाता। नाम जपते-जपते उसका अर्थ हृदयमें समाता है। इसीलिये महर्षि पतञ्जलि ने अगले सूत्र में कहा है:—

"तज्ज पस्तदर्थ भावनम्"

प्रणव का जप क्या है? उसके अर्थ अर्थात् ईश्वर की भावना करना। ईश्वर-चिन्तन करना ही ओंकार का जप है, इससे चित्त एकाग्र होकर समाधिसिद्ध होती है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि—किसी लक्ष्य को बेधने के लिये तीन वस्तुओं की आवश्यकता होती है एक धनुष दूसरे बाण और तीसरे मन की एकाग्रता अर्थात् मन की सब वृत्तियों को चारों ओर से हटाकर एक लक्ष्य की ही ओर लगाना, जब तक ये तीनो साधन अनुकूल न हों, तब तक लक्ष्य-बेध नहीं हो सकता। इसलिये जो ब्रह्म रूप अति सूक्ष्म लक्ष्य को बेधना चाहता है उसको पहले ब्रह्म-विद्या का दृढ़ धनुष हाथ में लेना चाहिये और फिर उपासना यानी अभ्यास-योगसे तीक्ष्ण बाणको उसमें जोड़ना चाहिये। इसके बाद अपने मन की सब वृत्तियों को सांसारिक सब विषयों से हटाकर ब्रह्मरूप-लक्ष्य में स्थिर करना चाहिए। ऐसा करने से हम अवश्य ही अपने लक्ष्य को बेध सकेंगे। इस विषय में उपनिषदों ने कई तरह से कहा है:—

अर्थात् ओंकार ही धनुष है। जीवात्मा उसका बाण और ब्रह्म लक्ष्य है मुमुक्षु पुरुष को ओंकार रूप धनुष में आत्मरूप बाण को चढ़ाना चाहिये। फिर जितेन्द्रियतापूर्वक चित्त-वृत्तियों को सांसारिक विषयों से खींचकर चित्त को एकाग्र करके वाचक की सहायता से वाच्य रूप लक्ष्य को आत्मरूप बाण से बेधना चाहिये।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है—

'स्वदेहमरणिं कृत्वा
प्रणवश्चोत्तरारणिम्।
ध्यान निर्मथनाभ्यासा-
द्देवं पश्येन्निगूढवत्॥'

अर्थात् जैसे एक अरणी को दूसरी अरणी पर रखकर फिर खूब रगड़कर अग्नि निकालते हैं, उसी प्रकार अपनी देह (हृदय) रूप एक अरणी पर प्रणव ओंकार रूप दूसरी अरणी को धारण करके खूब रगड़ करनी चाहिये। अखण्ड रूप से ओंकार का जाप करने से उसके कार्य अर्थात् ईश्वर का हृदय के अन्दर चिन्तन करने से ध्यान लग जाता है और जिस प्रकार दो लकड़ियों के रगड़ने से उनके भीतर छिपी हुई अग्नि प्रकाशित होती है, उसी प्रकार हृदय और प्रणव की रगड़बाजी से अन्दर छिपा हुआ परमेश्वर वहाँ हृदय मन्दिर में प्रकाशित होता है। यही मनुष्य जन्म का परम पुरुषार्थ है।

×•—•×

मैं किसी गाँव में गया। वहाँ कुछ लोग पूछते थे—क्या ईश्वर है? हम उसके दर्शन करना चाहते हैं?

मैंने उनसे कहा—ईश्वर ही ईश्वर है। सभी कुछ वही है। लेकिन जो मैं से भरे हैं वे उसे नहीं जान सकते। उसे जानने की शर्त स्वयं को खोना है। जो मिटने को राजी है वही प्रभु को पाने का अधिकारी है।

—आचार्य रजनीश

शिवलीन अवधूत श्री कृपालानन्द जी

(श्री गुरुदेव के सौजन्य से)

ऋषिकेश से लगभग नौ मील ऊपर पुण्य-तोया भागीरथी के पावन किनारे पर ब्रह्मपुरी नाम का पवित्र वन है। अपनी उत्तराखंड की यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व हमारे सद्गुरुदेव योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने कुछ समय इस पवित्र वन में निवास किया था। उन्हीं दिनों अवधूत योगी श्री कृपालानन्द जी भी इस वन में रहा करते थे अखण्ड मंडलाकार तेजयुक्त परम सिद्ध श्री प्रभुजी की वास्तविकता को वह पहचानते थे, अतः उनके प्रति कृपालानन्दजी के हृदय में स्वाभाविक ही अत्यन्त सम्मान एव प्रेम का भाव उदय हो गया था। प्रायः वह श्री प्रभु जी के पास आकर ज्ञान-चर्चा किया करते थे।

आनन्दकन्द जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भगवद्गीता में युक्त योगी का लक्षण इस प्रकार कहा है—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा
कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी
समलोष्टाश्म कांचनः॥

श्री भ० गी० अ० ६-८

अर्थात् जिसका आत्मा ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण है और जो बिल्कुल विकार रहित स्थिति में पहुंच गया है और सब प्रकार से इन्द्रिय जयी है-ऐसा युक्त योगी कहलाता है। "ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा" पद का तात्पर्य है कि प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर उन पर नियंत्रण प्राप्त करना अर्थात संयम के बल से सकल सिद्धियों को प्राप्त करना और पूर्ण आत्म-साक्षात्कार करना। हमारे पूर्व आचार्यों ने योग विद्या की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए यह शब्द कहे हैं—

यस्मिन् ज्ञाते सर्व मिदं ज्ञातंभवित।

अर्थात् जिसके जान लेने पर सब कुछ जाना जाता है। इस महती विद्या के सकल ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये योगचार्यों ने दो मार्गों का वर्णन किया है। उनमें से एक मार्ग औपनिषदिक सिद्धान्त का है जिसका वर्णन भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस प्रकार किया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहु
इन्द्रियेभ्यो परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धि-
र्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

—श्री भ० गी० अ० ३।४२

अर्थात् योगी पहले अपनी इन्द्रियों का साक्षत्कार करे, फिर मन का करे, उसके बाद

बुद्धि का साक्षात्कार और तदनन्तर आत्म-साक्षत्कार करे। किन्तु इस मार्ग में थोड़ी सी कठिनता है। क्योंकि इन्द्रियों का सूक्ष्म धर्म समझना कठिन है। और आत्म-साक्षात्कार तो उससे भी बहुत आगे की वस्तु है। दूसरा मार्ग सर्व साधारण के कल्याणार्थ हमारे आचार्यों ने यह बताया जिस पर चलने से हर व्यक्ति अपना कल्याण कर ही सकता है। इस मार्ग का संकेत योगाचार्य भगवान् पतंजलि महाराज ने "वीतराग विषयं वा चित्तम्" कह कर किया है। अर्थात वीतराग पुरुषों को हम अपना ध्येय बना कर उनके अहंकार में अपना अहंकार विलीन कर दें तो थोड़े समय में ही समाधि लाभ कर सकते हैं, उस स्थित में उनकी उपार्जित सिद्धियाँ हमारी अपनी होंगी और कालान्तर में उनके स्वरूप में लय हो कर हम कैवल्य-भाव को भी अवश्य प्राप्त हो जायेंगे।

अवधूत श्री कृपालानन्द जी इस दूसरे मार्ग के ही अनुयायी थे। उनके ध्येय थे भगवान् सदा शिव, अतः वह शिवलीन रहा करते थे। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार अवधूत श्री कृपालानन्द जी अपने मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार को भगवान सदा शिव के मन, चित्त बुद्धि और अहंकार में विलीन किये रहा करते थे। भगवान शिव में लीनता के कारण अवधूत कृपालानन्द जी को भगवान सदा शिव की शक्तियाँ हर समय प्राप्त थीं। युक्त योगी होने के कारण उस वन में रहने वाले अन्य सभी महात्मा उनका अत्यन्त सम्मान करते थे। वह परम विरक्त-भाव से अवधूत वृत्ति में विचरा करते थे।

उन्हीं दिनों मसूरी के वनों में घूमते हुए एक अंग्रेज दम्पत्ति आए। वहाँ एक साधना लीन महात्मा के दर्शन होने से उस अंग्रेज स्त्री के हृदय में भी वैसी साधना कर ईश्वर प्राप्ति की इच्छा जागृत हो गई। उस स्त्री ने महात्मा जी के चरण पकड़कर उस मार्ग का उपदेश करने की प्रार्थना की। महात्मा जी योगबल से समझ गये कि संस्कार महात्मा कृपालानन्द जी से है। अतः उन्होंने उस अंग्रेज महिला को ब्रह्मपुरी के वनमें जाने की आज्ञा देते हुए कहा—योगिराज कृपालानन्द जी के द्वारा ही तुम्हें यह अन्तर्निधि प्राप्त होगी। उनके द्वारा ही ज्ञान का प्रकाश तुम्हें प्राप्त होगा। वह अंग्रेजी स्त्री बड़ी दृढ़ लगन वाली थी। अतः पति को वापिस करके खोजते-खोजते ब्रह्मपुरी के वन में जा पहुँची और यत्र-तत्र कृपालानन्द जी का अन्वेषण करने लगी। इसी प्रकार रात्रि हो गई, तब भयभीत होकर उसने भगवान से कातर-स्वर में प्रार्थना की। अकस्मात् कृपालानन्द जी नग्न-रूप में विचरण करते हुए उधर ही आ निकले। देखते ही उस देवी ने अवधूत जी के चरण कमलों को पकड़ लिया। पहिले तो उन्होंने उसे हतोत्साहित करने का प्रयास किया। अन्त में उसकी दृढ़ लगन देखकर उसे योगाभ्यास की विधि बताई और वहीं पर कुटी बना कर रहने की आज्ञा दे दी। वह देवी अपने गुरुदेव की आज्ञा का अक्षरशः पालन करती और कन्दमूल खाकर अपनी साधना में तत्पर रहती। परिणामतः उसमें कई चमत्कारिक शक्तियों का प्राकट्य

हुआ।

जिन दिनों आनन्दकन्द प्रभु श्री राम-लाल जी महाराज वहाँ पहुँचे थे, तब यह देवी भी वहाँ निवास किया करती थी। इसके अतिरिक्त हीरागिरि नाम के एक अन्य महात्मा से भी उनका परिचय हुआ। परिचय बढ़ने पर श्री प्रभु जी और वह महात्मा साथ-साथ गंगा-स्नान करके कन्दमूल खोदलाते और साथ ही बना लिया करते थे. कभी कभी कृपाला-नन्द जी भी उस ओर आ जाते थे। महात्मा हीरागिरि अवधूत कृपालानन्द जी के प्रति कुछ उपेक्षा का भाव रखा करता था। अव-धूत उसके मनोभाव समझ गये और उन्होंने शिक्षा देने का विचार किया।

अवधूत श्री कृपालानन्द जी प्रातः काल ब्राह्म मुहूर्त में ही पवित्र गंगा की धारा में स्नान करके गंगा तट पर ही समाधिस्थ होकर बैठ जाया करते थे। दोपहर बाद लगभग दो बजे के उपरान्त वह समाधि से उठते थे। उठने के पश्चात् उस वन में जो कोई भी साधु कन्दमूल बनाकर तैयार किया हुआ दिव्य-दृष्टि से दिखाई देता उसके पास मनोजविता से तत्काल जा पहुँचते और उससे आधा भोजन लेकर खा लिया करते थे। वह स्वयं कन्दमूल न बना कर नित्य इसी प्रकार किया करते थे। ब्रह्मपुरी के वन में रहने वाला कोई भी महात्मा उनके इस नैत्यिक कार्यक्रम के कारण कृपालानन्द जी से रुष्ट नहीं होता था क्योंकि सभी को उनकी दिव्य-स्थिति का ज्ञान था। सब जानते थे कि वह सब प्रकार से परिपूर्ण भगवान सदा शिव के रूप ही हैं। अतः जिसके यहाँ जाकर भी वह भोजन करते वही अपना अहोभाग्य समझता और उनके पुनरागमन की प्रतीक्षा किया करता। परन्तु महात्मा हीरागिरि उनके इस व्यवहार से बहुत ही चिढ़ता था, इसी कारण उनके प्रति उपेक्षा भाव रखते हुए कहता-ठीक है, कृपा-लानन्द जी युक्त योगी हैं और हम सब युञ्जन योगी हैं। लेकिन कालान्तर में हम भी युक्त को प्राप्त होंगे ही। कृपालानन्द भी हमारे बराबर का भाई ही तो है।

योगिराज कृपालानन्द जी ने उसके मनो-भावों को जान लिया था अतः अब भोजन के लिये अन्य किसी महात्मा के यहाँ न जाकर वह नित्य ही महात्मा हीरागिरि के स्थान पर पहुँचने लगे। दो-तीन दिन तो वह चुप रहा और मन मारकर कृपालानन्द जी को भोजन के लिये कन्दमूल देता रहा। परन्तु चौथे दिन उसे कृपालानन्द को भोजन के ठीक तैयार हो जाने पर आया हुआ देखकर बड़ी खीझ हुई। जैसे ही कृपा-लानन्द जी ने अपना भाग माँगा, वैसे ही वह क्रोध में भर कर बोला—क्यों देदें तुझे कन्द-मूल ? क्या तू खोद कर रख गया था ? जंगल में पड़ा है कहीं से भी खोदले और बना कर खाले। किन्तु अवधूत कृपालानन्द जी ने उसके इन क्रोध युक्त वचनों को कोई महत्त्व नहीं दिया और चुपचाप उसके बनाये हुए कन्द-मूलों में से अपना भाग स्वयं ही लेकर खागये और हंसते हुए चल दिये। हीरागिरि बहुत

चिढ़ता रहा और कहता रहा देखो, महात्मा होकर भी क्या आदती डाली है ? आया और खा गया जैसे इसके मां-बाप खोद कर और बनाकर इसके लिए ही रख जाते हों। हीरागिरि ने अगले दिन इस मुसीबत से बचने के लिए भोजनके समय से बहुत पहले ही कन्दमूल बना डाले और श्री प्रभुजी से बोला—उस दुष्ट कृपालानन्द जी के आने से पूर्व ही खा लेते हैं। फिर अवधूत आकर खाली पात्र देख कर स्वयं ही लौट जायगा। अभी उसने भोजन परोसा ही था कि सामने से मुस्कराते हुए कृपालानन्द जी आते दिखाई पड़े। आते ही बोले—भाई हीरागिरि, बड़ा अच्छा किया जो तुमने जल्दी ही कन्दमूल तैयार कर लिये आज तो जल्दी ही भूख लग आई है। विवश होकर महात्मा हीरागिरि को नित्य की भांति तीन भाग करने पड़े, और कृपालानन्द जी तृप्त होकर चल दिये।

महात्मा हीरागिरि बड़ी उलझन में था। कैसे इस अवधूत से पिंड छूटे ? उसे एक उपाय सूझा और अगले दिन उसने भोजन के समय तक कन्दमूल खोदे ही नहीं। उसका विचार था भोजनके समय अवधूत आएगा तो कह दूंगा-भाई यदि तुझे कन्दमूल खाने हों तो खोद ला और बना कर खाले। मुझे तो खाना नहीं था, इसीलिये बनाया भी नहीं है। परन्तु आश्चर्य की बात कि उस दिन भोजन के समय योगी कृपालानन्द आए ही नहीं। जब भोजन का समय निकले दो घंटे हो चुके, तब हीरागिरि वन में जाकर कन्दमूल खोद लाया और बनाने लगा। मन में वह प्रसन्न था और नित्य ही इसी उपाय से कृपालानन्द जी से बचने की बात सोच चुका था। कन्दमूल बन कर तैयार हुआ ही था कि कृपालानन्द जी आ पहुंचे और हंसकर बोले-भाई हीरागिरि तू हमारा बड़ा ख्याल रखता है। तुझे कैसे पता चल गया कि आज हमें भूख नहीं लगी है इसलिये हम देरी से खायेंगे। वैसे तो आज बिना खाये ही रहना पड़ता, लेकिन जब तूने इस समय बना ही रक्खा है, तो ला-थोड़ा सा खा लेते हैं। मन-ही-मन हीरागिरि को बेहद क्रोध आया और बोला—तुम कुछ समाधि-समाधि नहीं लगाते केवल भोजन की समाधि लगाते हो इस समय कहां कन्दमूल मिलेगा-बस यही देखा करते हो। इसके बाद हीरागिरि नित्य स्थान-परिवर्तन कर-करके कन्दमूल तैयार करने लगा। किन्तु श्री कृपालानन्द जी की दिव्य-दृष्टि से कोई भी स्थान बच न सका और वह अपनी मनोजविता से प्रत्येक स्थान पर पहुंच कर हीरागिरि के यहां ही नित्य भोजन करते थे।

महात्मा हीरागिरि के हृदय में प्रतिशोध की भावना जाग्रत होगई और उसने एक दिन चुपचाप धतूरे के सेर भर पत्तों का साग बना डाला और मन में कहने लगा-आज महात्मा को इस प्रकार खाने का मजा मिल जायगा। उधर श्री प्रभुजी ने भी अपने कन्दमूल भूनकर तैयार किए हुए थे। ठीक समय पर कृपालानन्दजी आये। श्री प्रभुजीने अपने कन्दमूलों के तीन भाग करके एक भाग कृपालानन्द जी के सम्मुख रक्खा। हीरागिरि ने धतूरे का सारा

साग कृपालानन्द जी के सम्मुख रख दिया तब अवधूत बोले—क्यों रे हीरागिरि मरने को हम ही रहे हैं क्या ? हम-तुम दोनों ही क्यों न मरें ? इस साग को तू भी खा और हम भी खाते हैं। प्रभुजी इस रहस्य से अनभिज्ञ थे, अतः आश्चर्य में भर कर कहने लगे—महाराज, क्या हुआ ? ऐसे वचन क्यों बोल रहे हैं ? तब कृपालानन्द बोले—आज यह हमें मारने के लिये धतूरे के पत्तों का साग बना कर लाया है। श्री प्रभुजी ने कहा—आप उसे मत खाइए, बस केवल मेरे वाले कन्दमूल ग्रहण कीजिए। परन्तु अवधूत कहने लगे—बेचारे ने बड़े प्रेम से बनाया है। हम इसे अवश्य खायेंगे। ऐसा कह उस साग के तीन भाग करके एक प्रभुजीके सामने भी रख दिया और कहा—तुम इसे निश्शंक खाओ, हम भी खाते हैं। परन्तु फल यह दुष्ट हीरागिरि ही भोगेगा। तीनों ने वह साग खाया किन्तु श्री प्रभु जी और कृपालानन्द पर धतूरे के विष का कोइ प्रभाव नहीं हुआ। परन्तु थोड़ा सा साग खाते ही हीरागिरि की दशा बिगड़ने लगी और थोड़ी सी देर में विष के प्रभाव से वह मूर्छित हो गया। श्री प्रभु जी से कृपालानन्दजी ने कहा—तीन दिन तक यह अपने किये का आनन्द भोगेगा। तीन दिन बाद होश आते ही हीरागिरि बोला—हम अब इस दुष्ट कृपालानन्द की अपने योग बल से खबर लेंगे और चुपचाप नित्य की भांति कन्दमूल बना कर तैयार किये। मध्यान्ह होने पर अवधूत श्री कृपालानन्दजी आये और हँसकर बोले—कहो हीरागिरि अभी कुछ और मन में है। श्री प्रभुजी हँस पड़े तो अवधूत कहने लगे—अब यह योग बल से हमें बदला देगा। हम उस समय भी इसकी खबर लेंगे। तत्पश्चात् कन्दमूल का भोजन करके तीनों व्यक्ति बैठ कर चर्चा करने लगे।

उस समय हीरागिरि अपना अपमान समझ कर बहुत ही क्रोध में बैठा था। उसी दशा में उसने विचार किया आज अब यह अवधूत ध्यानस्थ होगा उसी समय जाकर इसका मुख कालिख से काला करूंगा। कृपालानन्द जी पूर्ण योगी थे, तत्काल उसके मन का विचार जान गये और वहीं समाधि लगा कर बैठ गये। दोनों हाथों को कालिमा से काला करके जैसे ही वह उनकी ओर बढ़ा तब उनके आसन के नीचे से ततैये निकल कर हीरागिरि के मुख को चिपट गईं। उनसे बचने के लिये घबराते ही उसने अपने दोनो काले हाथों को अपने मुख पर ही लगा लिया। फलतः कृपालानन्द जी के बजाय उसका स्वयं बड़ा ही मुख काला हो गया। श्री कृपालानन्द जी की इन चमत्कारिक शक्तियों को देख कर हीरागिरि कुछ भयभीत सा हो गया, परन्तु प्रतिशोध की भावना उसके मन से न निकल सकी।

एक दिन श्री प्रभु जी के निवास-स्थान पर हीरागिरि, कृपालानन्द और कृपालानन्द की अंग्रेज शिष्या सब एकत्रित थे। हीरागिरि कहने लगा अवधूत जी आप का तन तो अति कृश है। हमें तो आप से एक कार्य कराना

था। कृपालानन्दजी बोले—निस्संकोच कहो क्या काम है? हीरागिरि बोला-हम चाहते हैं कि इस ब्रह्मचारी (प्रभुजी) की शिला यहाँ से उठा कर हमारे स्थान पर ले जाकर रख दी जाती तो बड़ा अच्छा होता। वहाँसे हीरागिरि का स्थान दो मील दूर था और शिला का वजन सैकड़ों मन था। तत्काल कृपालानन्द जी ने अपनी अंग्रेज शिष्या को आज्ञा दी-जाओ, यह शिला उठा कर वहाँ रख आओ। आज्ञा पाकर वह देवी कृपालान्द जी की परिक्रमा करके एवं चरण कमलों में प्रणाम करके उस शिला पर सिद्धासन से बैठ गई। थोड़ी देर में ही वह शिष्या शिला सहित आकाश मार्ग से जाकर यथा-स्थान शिला को रखकर आकाश मार्ग से ही वापिस आ गई। आकर अपने गुरुदेव को प्रणाम करके बैठ गई। इस चमत्कार को देख कर हीरागिरि बहुत लज्जित होकर कृपालानन्द जी का मान करने लगा।

अवधूत कृपालानन्द जी पूर्ण योगिराज थे। और भगवान सदाशिव में लीन रहने के कारण उन्हीं के सदृश शक्ति सम्पन्न रहते थे। युक्त योगियों की श्रेणी में आदर्श स्थान रखते थे। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी से वह मित्रता का नाता मानते थे।

—×०×—

योगियों का अन्तर्धान

जब योगी शरीर के रूप में संयम करता है तब उसके शरीर के रूप की ग्राह्यता शक्ति स्तम्भित हो जाती है तब किसी के नेत्रों का प्रकाश उसमें शरीर को स्पर्श नहीं कर सकता, इस कारण से योगी का शरीर अन्तर्हित हो जाता है।

यह एक स्वाभाविक बात है कि नेत्र इन्द्रियों की शक्ति जब किसी कारण से प्रति बद्ध हो जाती है तब उसको सम्मुख रखा पदार्थ भी नहीं दीखता। जैसे इन्द्रजाल का खेल करने वाले लोग अनेक पदार्थों के संयोग और क्रिया-कौशल से दर्शकों के नेत्रों को स्तम्भित कर देते हैं ऐसे ही इन्द्र जालिक लोगों के परम गुरु योगियों का अन्तर्धान होना कुछ आश्चर्य जनक नहीं है।

—व्यास भाष्य

परमात्म-सत्ता की व्यापकता

सु श्री प्रेमवती एम०ए० (दर्शन.हिन्दी)

आधुनिक विज्ञान के युग में प्रथम तो परमात्म सत्ता के अस्तित्व के विषय में ही सन्देह और विश्वास उत्पन्न हो गया है और जो लोग ईश्वर सत्ता को स्वीकार करते हैं वे भी उसकी व्यापकता को हृदय से स्वीकार नहीं करते। कुछ धर्म मतों में तो ईश्वर की व्यापकता को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार किया जाता है। केवल ईसाई और मुसलमान ही नहीं बलिक अपने सनातन धर्म-को मानने वालों में भी कुछ सम्प्रदाय इस विचार के उत्पन्न हो गये हैं जो इस बात का जोरदार प्रचार कर रहे हैं कि ईश्वर सर्व व्यापी नहीं है बल्कि माया सर्व व्यापी है। अर्बुद पर्वत स्थित (वर्तमान माउन्ट आबू में) एक विचार-प्रणाली इस प्रकार के प्रबल प्रचार में संलग्न है जिसमें वैदिक धर्म की कई मान्यताओं को जड़ से अस्वीकृत करके अज्ञान घोषित कर दिया गया है। यह संस्था ईश्वरीय प्रदत्त ज्ञान को जिस रूप में प्रस्तुत करती है उसका स्वरूप स्वीकृत मान्यताओं के आमूल परिवर्तन करने पर निर्धारित हुआ है। "ब्रह्माकुमारी प्रजापति ईश्वरीय विश्व-विद्यालय" नाम से इसकी अनेक शाखायें इस बात का प्रचार करती हैं कि भगवान शिव कहते हैं कि माया सर्वव्यापी है परमात्मा सर्वव्यापी नहीं है। तर्कका आधार लेकर कहा जाता है कि यदि किसी मनुष्य से यह कहा जाय कि तुम्हारा बाप गधे, कुत्ते कीचड़ सब में है तो वह तुरन्त ही कहने वाले की अक्ल ठिकाने लगा देगा पर कितने आश्चर्य और खेद की बात है कि उस परमात्मा की शान में हम कुछ भी कह डालते हैं। परमात्मा तो आकाश तत्व से ऊपर शान्ति धाम में बिन्दु स्वरूप से शिवनाम से अलग रहता है और सर्वज्ञ होते हुए भी सर्व-व्यापी नहीं है।

अब यदि तर्क का ही सहारा लिया जाए तो यह बात कुछ बुद्धि संगत नहीं है कि सर्वज्ञ तत्व सर्वव्यापी न हो। सर्वव्यापकता के नष्ट होते ही सर्वज्ञता भी असम्भव है। जहां पहुंच नहीं होगी वहाँ की बात जानेंगे क्या? और तब तो परमात्मा सीमित हो जाएगा और सीमित होते ही उसकी सर्वशक्ति-मत्ता भी कहाँ रह जायगी? वह तो बस केवल शान्ति धाम में रहने लायक रह जायगा पर बात यह है प्रस्तुत विषय तर्क का न होकर अभ्यान्तरिक एकाग्रता का है। ईशा-वास्यं इदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत" के अनुसार जगत में जो कुछ है वह सब परमेश्वर का आवास है। उपनिषद् का यह वाक्य ऋषि की उस अभ्यान्तरिक अनुभूति से उत्पन्न हुआ है जो सुनने भर से नहीं समझी जा सकती और प्रचार मात्र से जिसकी मान्यता हृदयग्राही नहीं हो सकती। इस अनुभूती को स्वयं के हृदय की अनुभूति बनाने के लिए

ईश्वर की व्यापकता को अनुभव कर लेने के लिए अभ्यान्तरिक एकाग्रता की उस सीमा की आवश्यकता है जिसको प्राप्त कर के अन्य कुछ प्राप्त करने को नहीं रह जाता।

यह ठीक है कि तर्क बुद्धि का अपना स्थान है पर वह ज्ञान एक सीमित ज्ञान है और तर्क की कसौटी से भी व्यक्ति या शास्त्र का पढ़ा-सुना मानना केवल एक अन्धविश्वास ही है। केवल मन की एकाग्रता ही एक ऐसी स्थिति है जिसमें शास्त्रों का वास्तविक अर्थ ऋतम्भरा प्रज्ञा में जगमगा उठता है। समस्त संसार ही उस मनुष्य के दृष्टिकोण से दिखाई देता है जो पहाड़ की सबसे ऊंची-चोटी पर खड़ा नीचे की सब चीजों को साफ-साफ देख रहा है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जिनको इस सीमा की एकाग्रता नहीं प्राप्त हुई वे किस किस बात को मानें। इस सीमा की एकाग्रता उपलब्ध होने तक किस मान्यता को हृदय में स्थान दें। तो उत्तर है कि यह भी आस्था का विषय है तर्क का नहीं। कई बात ईश्वर को व्यापक मानने वाले भी चोरी करते पाए जाते हैं। छीना झपटी, अन्याय हिंसा, असत्य दूसरे का स्वत्व हरण सब इसी प्रकार की क्रियाएं हैं जो ईश्वर के व्यापक स्वरूप को हृदय वाली कर लेने के उपरान्त होनी ही नहीं चाहिए। पर हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि लोग मुख से ईश्वर को सर्वत्र व्यापक मानते हुये भी ऐसी क्रियायें करते हैं। तात्पर्य यह है कि कहने सुनने से कुछ होता नहीं है। मानना पड़ता है रेखा-गणित के प्रथम पाठ में पढ़ाया जाता है कि बिन्दु की लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती। रेखा की चौड़ाई नहीं होती। पर अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ाते समय बिन्दु की लम्बाई-चौड़ाई और रेखा की चौड़ाई अंकित करने से विरुद्धाचरण का दोषी हो जाता है। परन्तु यह विरुद्धाचरण ही उच्चतम गणित पढ़ाने के लिए आवश्यक है। जभी विद्यार्थी इस स्वयंसिद्ध सिद्धान्त को हृदयंगम कर पाता है कि वास्तव में बिन्दु लम्बाई-चौड़ाई रहित और रेखा चौड़ाई रहित होती है। उच्चगणित पढ़ते समय इस सिद्धान्त को दृष्टिगत रखना पड़ता ही है, नहीं तो सब ही गलत हो जाएगा। ठीक इसी प्रकार लौकिक व्यवहार करते समय इस बात को दृष्टिगत रखना पड़ेगा कि ईश्वर सर्वव्यापक है तभी अनेक प्रकार के विकर्मों से बचना सम्भव हो सकेगा। यदि कभी विरुद्धाचरण भी हो तो भी लक्ष्य को अधिक स्पष्ट करने के लिए ही होना चाहिए जैसे कि रेखा गणित का शिक्षक श्याम पट पर बिन्दु की लम्बाई चौड़ाई बना कर सिद्धान्त को अधिक स्पष्टता ही देने के उद्देश्य से तो विरुद्धाचरण करता है। वैसे मोटी सी बात समझने के लिए यह भी है कि ईश्वर के किसी भी एक गुण को सम्पूर्ण रूप से साक्षात्कार कर लेने के उपरान्त अन्य गुणों का अलग अलग साक्षात्कार करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उस परम पिता की सर्वज्ञता को ही यदि हृदय से स्वीकार कर के उसी में अपनी निष्ठा को दृढ़ करके मन की एकाग्रता से

सर्वज्ञता का साक्षात्कार कर लिया तो यह बात पूछने की गुंजाइश ही नहीं रह जाएगी कि परमेश्वर सर्वव्यापक है या नहीं। फिर जो लोग यह कहते हैं कि परमात्मा सर्वज्ञ तो है पर सर्वव्यापी नहीं है, उन्होंने एकाग्रता के किस स्तर पर इस प्रकार की घोषणा की है यह विचारणीय हो जाता है।

'ब्रह्म खल्विदं सर्वं' अर्थात् 'जो कुछ भी यह (संसार) है वह निश्चय ही ब्रह्म है' इस बात को मन की एकाग्रता द्वारा ब्रह्मानुभूति प्राप्त करके समझने के लिए योग सूत्र कहता है कि यह अनुभूति तीन प्रकार से प्राप्त होती है।

भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।'

अर्थात् देवताओं (उन व्यक्तिओं को जो देहाध्यास से ऊपर उठ चुके हैं) और प्रकृतिलयों को उन व्यक्तिओं को जिन्होंने प्रकृति की सूक्ष्म तन्मात्राओं में संयम करते-करते शरीर परिवर्तन कर लिया है जन्म-सिद्ध ब्रह्मानुभूति हुआ करती है।

'श्रद्धा वीर्य्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्'

अर्थात् दूसरे लोगों को श्रद्धा से उत्साह से लक्ष्य के स्मरण बने रहने से एकाग्रता और विवेक बुद्धि द्वारा उपाय प्रत्यय से ब्रह्मानुभूति हो जाती है।

अनेक पुण्यों के फलस्वरूप आप्त पुरुषों के प्राप्त हो जाने पर उनकी अनायास कृपा से जो हृदय जगमगा उठा करता है उसमें ब्रह्मानुभूति हो जाती है—

उपर्युक्त तीनों साधनों में से किसी के उपस्थित होने पर जो अनुभूति होती है उसके प्रकाश में एकमात्र परमात्म-तत्त्व की सर्वत्र सत्ता का ही अस्तित्व मात्र रह जाता है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है—

सिया राम-मय सब जग जानी।
करहुं प्रणाम जोर जुग पाणी॥

अर्थात् जब तक ब्रह्मानुभूति न हो तब तक यह मानते हुए कि सब संसार सियाराम-मय ही है केवल नमस्कार करते चलो।

नमस्कार में बड़ा बल है—

मन्मना भव, मद्भक्तो,
मद्याजी, मांनमस्कुरु।

मेरे जैसा मन वाला बन जा (इतना भी करते न बने तो) मेरा भक्त ही जा (यह भी न कर पावे तो) मेरे लिए कर्म करने वाला हो (और इतना भी तूने कर सके तो) मुझे नमस्कार कर।

नमस्कार करते-करते से तो बेड़ा पार हुआ जाता है। जगदात्मा प्रतीक्षा करते हैं। 'मामेव ऐष्यसि कौन्तय प्रति जाने प्रियोसिमे' तू मुझे प्यारा है तू मुझी को प्राप्त होगा। और परम पिता को जान भी कौन सकता है? अखिल ब्रह्माण्ड में मनुष्य की सत्ता एक परमाणु जैसी भी नहीं है। उसकी सीमित बुद्धि ईश्वरीय विधान में इतना भी तो महत्त्व नहीं रखती जितना ...

एक क्षुद्र तरंग। तरंग का अस्तित्व भी महासागर से अलग किया नहीं जा सकता। ब्रह्मानुभूति से च्युत प्राणी परमात्मा को बुद्धि के द्वारा जान ही नहीं सकता। जब जानेगा तब उसी परमात्म-सत्ता में अपने को स्थित करके जानेगा। और तब :—

जानत वह जिसे देव जनाई,
जानत तुमहिं तुमहिं हो जाई।

वही जानेगा जिस पर परमात्मा अपने आपको प्रकाशित करना चाहेगा और परमात्मा को जानते ही वह स्वयं परमात्मा स्वरूप हो जायगा। तब उसका दृष्टिकोण संसार के प्रति बिल्कुल बदल जायगा। परमात्मा का सर्वव्यापकत्व उसकी रग-रग में भर जायगा। वह उस सत्ता में स्थित होकर स्वयं अपने को सब में सबको अपने में देखेगा। श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसे युक्त योगी के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा है :

"सर्व भूतस्थमात्मानं,
सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा,
सर्वत्र समदर्शिनः॥"

अर्थात् ऐसा योग युक्तात्मा मनुष्य सब को समान दृष्टि से देखता हुआ सब संसार में स्थित अपने आपको और अपनी आत्मा मे संसार को स्थित देखता है। और फिर वह चिल्लाता नहीं फिरता कि परमात्मा सर्व व्यापक है या नहीं है। कारण, वह जानता है कि ऐसी बात किसी के कहने से हृदय में नहीं उतारी जा सकती। परन्तु उसके आचरण की मस्ती से ईश्वर की सर्व व्यापक सत्ता की पुष्टि हुआ ही करती है। वह जहां जब आवश्यक समझता है ईश्वरीय विभूति को उपस्थित कर देता है और इस प्रकार ईश्वर की सत्ता की व्यापकता आप ही स्पष्ट हो जाती है। ऐसा योगी :—

✓ सुनत न काहू की कही,
कहत न अपनी बात।
नारायण या रूप में,
मगन रहत दिन रात॥

और यह मगनता जब आती है जब वह देखता है—

"मयि एव सर्व इदं प्रोतम्"?

तब अपने आपको सर्वत्र अनुभव करता हुआ स्वरूप स्थिति में केवल "अस्मि-अस्मि" का अनुभव करता हुआ वह अस्मितानुगत समाधि के अच्युत आनन्द में मगन हो जाता है। "सर्वत्र मैं हूं" इस अनुभवकी मादक स्थिति मगन करने के साथ ही इस प्रकार का आचरण उद्भूति करती रहती है जिससे ईश्वर के व्यापकत्व में ही तो योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शिन हो जाता है। सर्वत्र घटपटादि के अन्दर स्वयं को अनुभव करता हुआ और सब में अपने को देखता हुआ वही एक परमात्मा के सर्व व्यापकत्व का निर्णय दे सकता है और तभी उसकी दृष्टि :—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा
कूटस्थो विजितेन्द्रिय।
युक्त इत्युच्यते योगी,
समलोष्टाश्म कांचनः॥
—गीता

ज्ञान विज्ञान से तृप्त होकर लोहा सोने में बराबर हो जाता है। भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद ने तो जलते खम्भे में परमात्म-शक्ति को प्रत्यक्ष स्वीकार करके उसे आलिंगन में बांध लिया था। उसी बात की मानो-पुष्टि के लिए नृसिंह रूप में प्रकट होकर परमात्म-सत्ता अविचारी के ऊपर कुपित हो उठी थी। प्रह्लाद ने सर्वत्र परमात्म-सत्ता की व्यापकता का प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए अनेक कष्ट सह लिए थे और प्रत्युत्तर में वह व्यापक सत्ता उसकी सदैव सहायक ही होती रही थी।

लेकिन परमात्मा के ऊपर निछावर होतो नहीं। सम्प्रादाय केवल मत चलाते हैं और प्रचार करते हैं। बुद्धि के बल पर कभी एक विचार तरंग उपस्थित करते हैं कभी दूसरी परन्तु उससे कुछ हाथ नहीं लगता। जो कुछ सन्तोष ऐसे लोगों को प्राप्त भी होता है वह केवल अपने मनोबल, विश्वास, और भगवान पर आस्था रखने से।

रही भावना जाकी जैसी,
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

परन्तु भावना के आधार पर प्रभु मूरत देखना और बात है और प्रभु में अपने को खोकर फिर तत्वतः उसको जानकर और जानकर वही हो जाना बिल्कुल दूसरी बात है। तभी तो जगत आत्मा की वाणी गुंजार रही है।

मया ततमिदं सर्वं,
जगदव्यक्त मूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि,
न चाहं तेष्ववास्थितः॥

परन्तु उपर्युक्त वाणी का भी कई बार इस प्रकार का अर्थ लगा लिया जाता है जिससे अर्थ का अनर्थ हो जाता है। "न चाहंतेष्ववास्थितः" का प्रायः यह अर्थ लगा लिया जाता है कि भगवान कहते हैं कि "यह सारा जगत मुझ अव्यक्त मूर्ति से उत्पन्न हुआ है सब वस्तुयें मुझी से उत्पन्न हुई हैं पर मैं उनमें नहीं हूं।" इस अनर्थ से परमात्मा की सर्व व्यापकता पर आक्षेप करने वाले यदि समझदारी से इस श्लोक का भावार्थ ग्रहण करने की चेष्टा करते तो "न चाहं तेष्ववास्थितः" का अर्थ यही होगा कि परमात्म-सत्ता किसी एक वस्तु में सीमित करके नहीं रखी जा सकती। जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त है किन्हीं वस्तुओं में सीमित होकर नहीं रहता इसी प्रकार परमात्म-सत्ता सर्वत्र व्याप्त है न कि "सर्व भूतों" में सीमित होकर बैठ गया है।

इसी भाव को प्रकट करते हुए विकर्म करने वालों को ललकारते हुए एक उर्दू शायर

ने कहा है।

साकी शराब पीने दे काबे में बैठकर।
या वह जगह बता दे जहां खुदा नहीं॥

नानक, कबीर, तुलसीदास, मीरा, सूरदास आदि सिद्ध कवियों के जितने भी पद वाणी या आप्त वाक्य है सभी में यह भाव समाया है कि परमात्म-सत्ता सर्वत्र ही व्याप्त है—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम से प्रकट होइ मैं जाना॥

परमात्मा तो सब जगह है ही। चाहिए केवल ऐसा साधक जो उस सत्ता को प्रकट करने का पुरुषार्थ करने का दम रखता हो।

योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी ऐसे पुरुषार्थियों की सफलता के एकमात्र आधार अपनी करुणा का उन्मुक्त प्रसार किए हैं। इनकी शरण में आकर गोस्वामी तुलसीदास की चौपाई मुखर हो उठती है—

अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता।
बिन हरि कृपा मिलें नहीं सन्ता॥

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति तेज्ञानंज्ञानस्तत्वदर्शिनः॥

अर्थात् "उस परमात्म-सत्ता को जानने के लिए जब तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों को प्रणाम, सेवा और प्रश्नों से सन्तुष्ट करेगा तो वे तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे।" तत्त्वदर्शी ज्ञानी सेवा भी क्या लेगा बहुत सूक्ष्म। और प्रश्न तथा परिप्रश्न केवल अधिकारी ही कर सकता है और अधिकारी को नम्र होकर तत्त्वदर्शी की शरण में जाना ही चाहिए।

अधिकारी पाठक, आइए और योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी की करुणा प्राप्त कीजिए।

काल करे सो आज कर,
आज करे सो अब्ब।
पल में परलै होयगी,
बहुरि करेगा कब्ब॥

अनन्त श्री गुरुदेव अपने प्रवचनों, आचरण और सत्संग के द्वारा वातावरण की अलक्ष्य शुद्धि कर रहे हैं, उसमें रहिए। उनसे सीखिए और जन्ममरण जंजाल से निकलकर उस परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार कीजिए जो आज तक केवल मात्र अपने पुरुषार्थ से अप्राप्त रहा है।

—×•×—

आयु - नाश के छः दोष

अत्यन्त अभिमान, अधिक बोलना, त्याग का अभाव, क्रोध, स्वार्थ, और मित्र-द्रोह यह छः तीखी तलवारें देहधारियों की आयु को काटती हैं। जो संसार में अधिक जीना चाहते हैं उन्हें इन छः दोषों से बचना चाहिए।

—महात्मा विदुर

गुरु-ज्ञानामृत

दो०—गुरु चरणोदक पान कर, ब्रह्म रूप रस खान।
अन्तर्यामी क्षित गगन, कोटिस भानु समान।

चौ०–गुरुवर महिमा अमित ज्ञान की, सगुणरूप शक्ति निधान की।
गुरुवर सम जगतहि बलधारी, बन केवट कर भव से पारी॥
भानु सो तेज चन्द्र सम शीतल, गुरुवर कृपा करे जगतीतल।
ब्रह्म रूप गुरु सृष्टी पालक, शंकर रूप असुर संहारक॥
रामरूप में गुरु जब आये, सकल लोक उपदेश सुनाये।
नाना विधि गुरु क्रीड़ा धारी, बनकर कृष्ण नाम अवतारी॥
विष्णु रूप गुरु देवन देवा, शिव शक्ति तुम्हीं गुरु देवा।
व्योम अन्तरिक्ष में तुम स्वामी, नमो नमो गुरु तुम्हें नमामी॥
सत्य सेव तप धारी नेमी, वृज मंडल के गुरु वर प्रेमी।
धनियों में गुरु धनी महा हो, ज्ञानामृत की थाह अथाह हो॥
आदि शक्ति शंका न कालकी, महा शक्ति प्रभु रामलाल की।
ऋषि मुनि जटा जूट तपधारी, गुरु चरणन पै सब बलिहारी॥
आठों याम गुरु नाम तुम्हारा, नहि गुरु बिन जीवन निस्तारा।
रोम रोम गुरु तुम्हें पुकारूँ, सब सुख गुरु चरणन में डारूँ॥
प्रेम धाम के गुरु भण्डारी, अद्भुत माया योग प्रसारी।
मात पिता गुरु बन्धु हमारे, गुरु ही ईश्वर प्राण पियारे॥
सब ज्योतिन में गुरु ही ज्योती, जग जीवन के सच्चे मोती।
गुरुवर वचन उपनिषद वेदा, रामायण गीता गुरुदेवा॥
बिन गुरु मिलइ न ज्ञान न शक्ती बिन गुरु कृपा मिलइ न भक्ती।
बारह मास में गुरु मधु मासा, दिन गुरु का गुरुवर प्रकाशा॥
तिथि नौमी गुरु जनम बखानो, एक ब्रह्म गुरुवर को जानो।
गुरुवर कृपा करें यहि भाँती, ज्यों मधुकर पंकज कर साथी॥
सप्त खण्ड में तुम्हरी सेवा, आदि अन्त तुमहीं गुरुदेवा।
गुरुवर चरन कमल सिर परहीं, स्वाँस स्वाँस में भी गुरुवर हीं॥
इस प्रकार गुरु जीवन मेरा, रहूं सदा गुरुवर का चेरा।
भक्ति विनय गुरु दो वरदाना, जिस क्षण प्राण करहि प्रस्थाना॥

दो०—नैनों में गुरु व्याप्त हों, हृदय कमल में वास।
गुरुवर गुरुवर रटत हों, पहुँचूँ प्रभु के पास॥
धन्य बनूँगा उस घड़ी, प्रभु चरणन में जाय।
जन्म-मरण का चक्र हो, निरखत प्रभु मिट जाय॥

ओ३म्प्रकाश श्रीवास्तव

योग और आजका युग

[श्री वल्लभाचार्य एम०ए०]

अभी कुछ दिनों पूर्व समाचार-पत्रों में बड़े-बड़े शीर्षकों में पढ़ने को मिला था कि बम्बई में एक योगी अपनी योग-शक्ति द्वारा पानी पर चलकर दिखायेंगे। दिन तारीख, समय आदि निश्चित हो गया। विदेशों से भी लोग उस चमत्कार को देखने के लिए आए। बड़े-बड़े टिकट लगाए गए। परन्तु प्रदर्शन करते समय योगी जी पानी में पैर रखते ही फिसल कर चोट खा गए। सफल क्यों न हो सके उसका कोई भी कारण हो सकता है, 'परन्तु यह असम्भव है', यह कहना भी गलत है। इस एक घटना को लेकर लोगों ने योग-के विरोध में बहुत-बहुत प्रचार किये। एक लेख में तो किसी ने यहाँ तक लिख दिया कि इस युग में योग की आवश्यकता ही नहीं है। उपरोक्त योगी जी के पानी पर चलने वाली बात को लेकर लेखक महोदय ने लिखा कि आज के युग में अर्थात् वैज्ञानिक युग में या कलयुग में जब जलयान है तो पानी पर चलने के लिए इतनी साधना की आवश्यकता ही क्या है? हवा में चलने वाली बात के ऊपर लिखा था कि जब वायुयान है तो इतनी साधना की क्या आवश्यकता है। परन्तु उन आलोचक जी ने यह नहीं कहा कि "पोटेशियम साइनाइड" (तीव्रतम विष) को खाकर कौन सा वैज्ञानिक बच सका जो कि इन्हीं योगी जी ने पीकर दिखाया। आज के विज्ञान ने बहुत उन्नति की है परन्तु जितनी उन्नति निर्माण पक्ष की ओर की है उतनी ही विनाश पक्ष की ओर भी की है जिसके लिये प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है। एक योगी निर्माण तो करता है परन्तु विनाश नहीं करता। एक वायुयान सैकड़ों व्यक्तियों, निरीह पशुओं का विनाश कर सकता है परन्तु एक योगी वायुमंडल में विचरते हुए भी चींटी के भी विनाश की नहीं सोच सकता। उपरोक्त लेख में यह भी पढ़ने को मिला की योगी अपने लिये ही करता है दूसरों के लिये क्या करता है? इसके लिये एक उदाहरण यह है कि जब एक यात्री ने हिमालय पर्वत पर तपस्या करते हुए एक योगी से उसके चमत्कारों से प्रभावित होकर पूछा कि आप संसारके लिए क्या करते है? तो उस महात्मा ने उसे दिव्य-दृष्टि देकर दिखाया कि हम यहीं से बैठे बैठे सब देख सकते है और संसार को विपत्तियों से बचाते रहते हैं। कभी-कभी अश्रद्धालु व्यक्ति श्रद्धालु व्यक्तियों से कहा करते है कि जब आपके ऊपर अमुक महापुरुष की कृपा है तो आपके ऊपर यह विपत्ति क्यों आई? बात तो कहने की ही है परन्तु सोचने की भी है। श्रीकृष्ण ईश्वर थे महा-योगी थे। क्या वे चाहते तो महाभारत में वर्णित कौरवों के विनाश को नहीं रोक

सकते थे ? रोक सकते थे परन्तु उन्होंने नहीं रोका। क्यों नहीं रोका ? इस इस प्रश्न का उत्तर ही प्रथम प्रश्न का उत्तर है। हम जानते हैं कि ईश्वर हर कण में, हर स्थान पर है फिर हम हर स्थान पर पापकर्म करने को उद्यत रहते हैं। भला क्यों ?

बहुत से व्यक्तियों ने यह गलत धारणा अपने मन में बैठा रखी है कि पाश्चात्य देशों में व्यक्ति अधिक सुखी और समृद्धिशाली है, अधिक प्रगतिशील है। अतः वे व्यक्ति उन्हीं का अनुसरण करते हुए अपने जीवन को पाप की ओर ढकेल देते हैं। वे भूल जाते हैं कि हमारी सभ्यता क्या है ? हमारा कौन सा समाज है ? वे तो बस वासनामय जीवन में ही लीन रहने का प्रयत्न करते हुए अपने को प्रगतिशील मानने की कल्पना करने लगते हैं। परन्तु देश काल की विभिन्नता पर भी विचार करना चाहिये। यह पश्चिमी देशों की नकल ही है जो हमारे जीवन को धीरे-धीरे क्षीण करती चली जा रही है और हम मृत्यु की ओर अग्रसर होते चले जा रहे हैं। हमारे पूर्वज सैकड़ों वर्ष तक जीवित रहते थे परन्तु आज यह कल्पना मात्र ही लगती है, क्योंकि चालीस वर्ष के उपरान्त ही वृद्धावस्था के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। क्या विज्ञान जीवन की अवधि को बढ़ाने की ओर कोई निर्णय दे सका है ? कोई नहीं। जापान में नागासाकी और हीरोशिमा पर जो बम गिरा था उससे सहस्रों निरीह बच्चे अपाहिज हो गए। एक योगी सहज ही लम्बी आयु पाता है उसकी मृत्यु भी सांसारिक होती है वरन् वह तो सहस्रों वर्षों तक जीवित रहता है। अभी भी हिमालय की कन्दराओं में सैकड़ों वर्ष की आयु वाले योगी सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

हमारे शरीरों में विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते रहते हैं। विज्ञान ने विभिन्न प्रकार की दवाएं भी विभिन्न रोगों के लिये आविष्कार कर दी हैं। परन्तु क्या फिर भी रोगों का उत्पन्न होना समाप्त हो गया है। शायद कभी हो भी न सकेगा, नए-नए बमों के आविष्कार आदि उनके प्रयोग, वातावरण में रोगों के कीटाणु उत्पन्न कर रहे हैं जो कि कभी भी शरीर को रोगमुक्त रहने नहीं दे सकते। केवल योग-साधक ही इन रोगों से मुक्त रह सकता है।

हम पश्चिमी देशों की नकल करने का प्रयत्न तो करते हैं परन्तु यह कभी नहीं सोचते कि उनका जीवन कितना अशान्तिमय है। वे शान्ति को प्राप्त करने के लिये ही और उन महान शक्तियों के दर्शन करने के लिये ही इतनी दूर से आते हैं जिसका प्रमाण ऋषीकेश में मिल सकता है। उन्हें कितना दुःख या आश्चर्य होता होगा जब वे हमको भी उसी अशान्तिमय जीवन की ओर चले जाते हुए देखते होंगे। आज पश्चिमी देशों में भी योग के प्रति जागरूकता उत्पन्न होती जा रही है और वे इस ओर अग्रसर हो रहे हैं और उस कहावत को छोड़ते चले जा रहे हैं 'खाओ पीओ और मौज करो' (Eat, drink and be merry) परन्तु हमारे देशवासी इसकी ओर बढ़ते चले जा रहे हैं। और अपने को

प्रगतिशील मानते हैं।

आज हम विश्व-शान्ति का प्रचार करते-करते थकते नहीं हैं परन्तु 'मुँह में राम बगल में छुरी' वाली ही बात हो रही है। एक तरफ तो विश्व-शान्ति चिल्लाते हैं दूसरी ओर अशान्ति के उपायों का भी आविष्कार कर रहे हैं। योग के द्वारा ही विश्व-शान्ति लाई जा सकती है। जब एक योगी के आश्रम में शेर और बकरी एक घाट पर पानी पी सकते हैं तो क्या मनुष्य शेर से भी क्रूर है जो योगी के आश्रम के प्रभाव में न आकर एक दूसरे पर आक्रमण करेगा?

आजकल भारतवर्ष एक प्रचार बहुत तीव्रता से चल रहा है जिसमें कि सहस्रों व्यक्ति भाग ले रहे हैं और वह है 'परिवार नियोजन'। जगह-जगह पर प्रचार के पोस्टर लगे रहते हैं। सैकड़ों पुस्तकें भी छपवाई गई हैं। तथा स्थान-स्थान पर परिवार-नियोजन केन्द्र खुल गये हैं। करोड़ों रुपया प्रति वर्ष इसमें खर्च हो रहा है पर इसमें सफलता कहाँ तक मिल रही है यह तो हम अपने पड़ोस में ही देख सकते हैं। बजाय इन वैज्ञानिक उपकरणों के प्रयोग के जीवन को संयमी और सरल बनाया जाय जिससे जीवन की आयु भी बढ़े, स्वस्थ भी रहें। इनके प्रयोग से तो न हानि ही होती है और चरित्रहीनता भी बढ़ती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि हम भारतवासी योग की ओर अग्रसर क्यों नहीं हो रहे? इसका प्रथम कारण तो यह हो सकता है जब कोई व्यक्ति रोग ग्रस्त होता है तो वह यह सोचा करता है कि अब ठीक हो जाऊँगा तो यह खाऊँगा, वह खाऊँगा जो कि वह दूसरों को खाते देखता है और जब वह रोग मुक्त हो जाता है और उसके ऊपर कोई नियंत्रण न रहे तो अपने मन की करने लगता है और दुबारा रोगग्रस्त हो जाता है और मन में पछतावा रखते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है। यही बात हम भारतवासियों पर लागू होती है। सदियों से अंग्रेजों की गुलामी में रहे। उन दासता के दिनों में उनके रहन-सहन को उनके समाजीकरण को देखकर सोचते रहे कि स्वतन्त्र होते ही हम भी ऐसा ही करेंगे। बस स्वतन्त्रता मिलते ही कोई नियन्त्रण तो है नहीं, चल पड़े उसी मार्ग पर और मृत्यु की ओर अल्पायु की की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं। कब जागृति आएगी क्या कहा जा सकता है? दूसरा कारण योग में रुचि न रखने या विरोध करने का कारण यह भी हो सकता है कि आज का व्यक्ति प्रमाद और आलस्य में घिरा रहता है। हम नहीं चाहते कि हम कोई कार्य ऐसा करें जिससे कुछ कार्य करना पड़े। अस्वस्थ होने पर अंग्रेजी दवाओं का सेवन करना पसन्द करेंगे। परन्तु योग-सिद्धि के लिए तो शारीरिक क्रियाएँ करनी होती हैं आसन करने होते हैं जिससे शरीर को शुरू में कष्ट होता ही है। एकाग्रचित्त होने के लिए भी शरीरको कष्ट देकर एक ही आसन पर बैठना होता है। यही कारण है कि कुछ व्यक्ति पहिले तो कुछ रुचि दिखाते हैं परन्तु थोड़े ही दिनों बाद छोड़-छाड़ कर बैठ जाते हैं। बहुत से व्यक्ति तो चार दिन ही ध्यानाभ्यास करने के

पश्चात् कहने लगते हैं, 'श्री गुरु जी मेरा तो ध्यान लगता ही नहीं है।' दो चार दिन ध्यानाभ्यास करनेके पश्चात् जब एकाग्रचित्त नहीं होता तो अभ्यास छोड़कर कहने लगते है 'ये सब बेकार की बातें हैं हमें तो कुछ दिखाई ही नहीं दिया।' कुछ व्यक्तियों में यह भ्रामक विचार घर किए हुए है कि केवल वे ही व्यक्ति योग के साधक हो सकते है जो गृहस्थ नहीं हैं अर्थात् जो घर आदि छोड़कर आश्रम में ही रहें। परन्तु यह एक बड़ा भ्रम है जो कि नहीं होना चाहिए। भगवान् शिव योगी हैं परन्तु वे भी गृहस्थ ही थे, और जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के समय उपदेश देते समय कहा था कि हे अर्जुन ! तू योगी बन। आज भी हमारे सवाई आश्रम के बहुत से साधक गृहस्थ होते हुए भी अधिक सफल हुए हैं। अतः हमें अपने में से यह भ्रामक विचार निकाल कर कि केवल वैराग्य लेकर ही अर्थात् गृहस्थ त्यागकर ही योग साधक हो सकते हैं, योग साधना में तन, मन, धन से लीन होकर अपने जीवन को सफल बनाना चाहिये।

योग साधकको वैराग्य तो ले लेना ही होता है परन्तु वैराग्य का अर्थ यह नहीं कि घर को त्यागकर बाल-बच्चों को भूखा-प्यासा छोड़कर चल देना चाहिये। बल्कि गृहस्थी का पालन करते हुए भी वैराग्य का भाव रखें। राग, रंग, भोग-विलास तामसी प्रकृतियों से अपने को दूर रखें।

इसलिये हमें चाहिये कि अपनी पुरानी संस्कृति को भूल कर गलत रास्ते पर आने का प्रयत्न न करें अपनी संस्कृति के महत्त्व को समझने की कोशिश करें। अपने देश और काल की स्थिति पर विचार करते हुए पश्चिमी देशों की नकल करने का प्रयत्न न करें। इससे पतन ही होगा–उन्नति नहीं।

—×०×—

मनुष्य कहाँ है ?

मनुष्य कहाँ है ? यह उसे स्वयं देखना है। वह जो कुछ करेगा, कर्मयोनिका प्राणी होने के कारण उसको उसका फल भोगना है। वह शुभ कर्म करता है तो उत्थान के मार्ग पर जाता है ? देवताओं से भी श्रेष्ठ बनता है। देवत्व ही नहीं, मोक्ष भी उसका प्राप्य बन सकता है। यदि अशुभ कर्म करता है तो वह पतन की ओर जा रहा है। नरक और पशुत्व उसके भाग्य में हैं।

धर्म बुद्धि ही मनुष्य की विशेषता है। धर्माधर्म को समझकर जो धर्म में लगे, वह मनुष्य है। जो केवल खाने-पीने तथा अन्य भोगों को जुटाने में लगा है, वह कितना भी बड़ा विद्वान् बुद्धिमान् हो, वह द्विपाद पशु, ही है। वह तो पशुत्व से भी नीचे जा रहा है !

सिद्धियाँ, उनके पाने की विधि एवं उनके लक्षण

[श्री बृजमोहन स्वरूप शर्मा, शास्त्री, बी० ए०]

भक्ति योग में साधना एक अमूल्य वस्तु है इसको हम पकड़, देख नहीं सकते किन्तु उस साधना के द्वारा हमारी भक्ति करने की शक्ति में स्तम्भन होता है। साधक अपने प्राण एवम् स्वभाव को अपने अधीन इस सीमा तक कर लेता है कि प्रभु को प्राप्त करने में बिल्कुल छोटी सी ही शक्ति के द्वारा प्रेरणा मिलती जाती है, और प्रभु को प्राप्त करने में लवलीन हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति निरन्तर इस सीमा तक लगातार बनी रहती है कि साधक के समक्ष नाना प्रकार की सिद्धियाँ स्वतः ही आ जाती हैं। इस प्रकार का उल्लेख श्री मद्भागवत में भी आया है:—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य
जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत
उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥

भक्तियोग के उल्लेखानुसार कुल अट्ठारह प्रकार की सिद्धियाँ ही प्रमुख हैं जो कि कठिन स्वाध्याय के पश्चात् महान कठिनाइयों के सामना करने पर प्राप्त हो सकती हैं। विशेष प्रकार से इन अट्ठारहों के नाम निम्न प्रकार हैं:—

(१) अणिमा (२) महिमा (३) लघिमा (४) प्राप्ति (५) प्राकाम्य (६) ईशिता (७) वशिता (८) कामावसायिता (९) उर्मि-मुक्त (१०) दूर श्रवण (११) दूर-दर्शन (१२) मनोजव (१३) रूप-धारण (१४) परांग प्रवेश (१५) सत्वमय-स्वरूप (१६) संकल्प (१७) अदृष्ट विषयक (१८) शरीर सिद्धि। इन १८ सिद्धियों में प्रथम आठ सिद्धि स्वयम् पर ब्रह्म परमात्मा के अंतर्गत निहित हैं। शेष दस प्रकार की सिद्धियाँ शरीर के समस्त सत्त्वगुणोंके विकास करने (२) रजोगुण परित्याग तथा (३) तमोगुण परित्याग द्वारा मनुष्य को प्राप्त हो सकती हैं। प्रथम आठो में से मनुष्य भी आंशिक रूप में प्राप्त कर सकता है।

प्रथम तीन अणिमा महिमा एवम् लघिमा शारीरिक सिद्धि है। चतुर्थ सिद्धि इन्द्रियों से सम्बन्धित सिद्धि है। यह प्राप्ति के नाम से प्रचलित है। इसके अतिरिक्त चौदह अन्य प्रकार की उपरोल्लेखित सिद्धियाँ और भी हैं, जिनके विषय में विवरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जारहा है।

अणिमा:—जब साधक को अपनी शक्ति में इतनी अणुता प्राप्त हो जाय कि वह अणु का रूप धारण करले और केवल तन्मात्रात्मक शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की कामना हीन करके अपने मन को

तदाकार बनाकर उसीमें अर्पित करने मात्र के योग्य हो जाता है तो वह अणिमा नामक सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यह एक महान यौगिक क्रिया कहलाती है। इस क्रिया से पत्थर की चट्टान के समान कठोर निर्जीव या जीवित वस्तुओं में भी प्रवेश कर सकता है। इस क्रिया के करने के लिये पञ्च-भूतों की सूक्ष्मतम मात्रायें ही शरीर में धारण करके शेष को बहिष्कृत कर दिया जाता है।

महिमाः—जो व्यक्ति पंचतत्वों को अलग-अलग समझ कर उनमें बार-बार अलग-अलग अपने प्राणों को प्रविष्ट कर दे और उन्ही के रूपों में अपने मन को महत-त्वाकार करके लीन कर देता है उसी महत-त्वाकारिक रूप में समस्त व्यवहारिक ज्ञानों को एकाग्रचित्त करके अपने को सिद्धि-युक्त कर लेता है तो वह सिद्धि महिमा पुकारी जाती है। महिमा सिद्धि के द्वारा पंचतत्वों की पृथक्-पृथक् महत्ता प्राप्त हो जाती है।

लघिमाः—जो आकाश, अग्नि, जल-वायु एवं पृथ्वी के समान पंचतत्वों को अणु से भी छोटा समझ कर उनको ही साधना का स्वरूप मानते हुये उनके परमाणुओं में अपने को समावेश करके अपने मन को एकाग्रचित्त करते हुये लघु से भी लघुतमता को प्राप्त करले वही साधक लघिमा सिद्धि को प्राप्त हुआ कहलाता है। इस सिद्धि से साधक न्यून से भी न्यून वस्तुओं में प्रवेश कर सकता है।

प्राप्ति सिद्धिः—जब साधक अपनी समस्त इन्द्रियोंको वशीभूतकर लेता है तो वह इन्द्रिय अधिष्ठाता के रूप में हो जाता है। अपने अहंकार को सात्विकता की संज्ञा समझते हुये परब्रह्म परमात्मा के रूप में लीन होकर यह धारणा करते हुये कि सात्विक अहं-कार ब्रह्म का ही एक रूप है जो एकाग्रचित्त हो जाता है-यही प्राप्ति सिद्धि कहलाती है। दूसरे शब्दों मे अपने चित्त को परब्रह्म परमे-श्वर के सात्विक अहंकार के अर्पण करके साधना युक्त होना ही प्राप्ति सिद्धि है। ऐसे साधक को किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती और उसका भाव संज्ञाहीन हो जाता है। इस प्रकार वह सिद्ध पुरुष हो जाता है।

प्राकाम्य सिद्धिः—जो साधक इच्छानु-सार संसार के किसी भी भोग को प्राप्त कर लेता है वह प्राकाम्य नाम की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जब साधक जिस भी वस्तु की कामना करते हुये अपने चित्त को निरन्तर एकाग्रचित्त करते हुये इस स्थितिमें पहुँच जावे और यह अनुभव करके लुप्त हो जाय कि अमुक भोग उसको प्राप्त हो चुका है वह प्रा-काम्यता को प्राप्त होता है। इस प्रकार लौ-किक एवं पारलौकिक पदार्थोंका इच्छानुसार, साधना से प्राप्त कर लेना ही प्राकाम्यता को प्राप्त होना कहलाता है। और यह सिद्धि ही प्राकाम्य सिद्धि कही जाती है।

ईशिता सिद्धिः—जो साधक माया के

बन्धन से अपने को बिल्कुल मुक्त हुआ जान कर अपनी इच्छानुसार ही माया के समस्त चक्रों को संचालित करने में समर्थ हो जाता है वह इस प्रकार की सिद्धि को प्राप्त हुआ कहलाता है। जो साधक संसार से विरक्त होकर भी परब्रह्म परमात्मा के काल के सदृश जगत के रूपकी धारणा करते हुये अपने चित्त को इस स्थिति तक ले आता है कि सांसारिक जीवों एवं शरीरांगोंको अपनी इच्छानुसार ही प्रेरणा प्रदान करना प्रारम्भ कर दे के और शनैः-शनैः उनको प्रेरित करने की सामर्थ्य प्राप्त कर ले तो वह 'ईशत्व'को प्राप्त हो जाता है। इसी को ईशिता-सिद्धि कहा जाता है।

वशिता सिद्धिः—जिन-जिन परिस्थितियों में यह शरीर होकर आता है वह सभी विषय-भोग कहलाते हैं अर्थात् जन्म से मृत्यु पर्यन्त विषय-भोगों का ही सामना करते रहना पड़ता है। किन्तु जब साधक विषय भोगों में रहते हुये भी उनमें आसक्त नहीं होता तो वह वशिता सिद्धि को प्राप्त हुआ कहलाता है। जब साधक अपने मन को एकाग्रचित्त करके स्वयम् प्रभु की इतनी अधिक कामना करने लगे कि प्रभुत्व के गुणों का प्रादुर्भाव उसमें हो जाय वह स्वाभाविक गुण इतने अधिक असीमित हो जांय कि विषय-भोगों में रहता हुआ भी उनमें आसक्ति का परित्याग कर देवे उसी को वशीभूतावस्थामें प्राप्त हुआ कहा जा सकता है और वही वशिता सिद्धि प्राप्त युक्त कहलाता है। जो आसक्तियों को वशीभूत कर लेता है और उनके वश से निकल जाता है वही इस प्रकार का वशिता प्राप्त साधक कहा जाता है।

कामावसायिता सिद्धिः—साधक को सदा ही जीवन से मृत्यु पर्यन्त विभिन्न प्रकार के सुखानुसार कामनाओं के वशीभूत होना पड़ता है। इस प्रकार साधक जब अपने अलौकिक एवं लौकिक सुखों की साधना करते हुये इस स्थिति तक पहुँच जाय कि उसको कामना करनेके उपरान्त सभी कुछ प्राप्त होता जाय, और साधक की कामना परिपूर्ण हो जाय। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म के रहस्य को प्राप्त करता है और अपने मन को नितान्त निर्मल ब्रह्मरूप में एकाग्र करके स्थित कर लेता है तब वह स्वरूपमयी परमानन्दमयी कामावसायिता नामक सिद्धि प्राप्त कर लेता है। इस तरह से अपनी मनोकामनानुसार विभिन्न प्रकार के सुखों का परिपूर्ण होना ही यह सिद्धि कही जाती है। इस प्रकार मनोकामनायें समाप्त होकर वशीभूत होने लगती हैं।

उपरोक्त आठों प्रकार की सिद्धियाँ केवल परब्रह्म परमेश्वर में ही व्याप्त रहती है और किसी मनुष्य में नहीं पाई जाती है हाँ प्रभु-इच्छा से उपरोक्त मे से आंशिक की प्राप्ति साधकों को प्राप्त हो सकती है। यह आठों प्रकारकी सिद्धियाँ एक ही साधक म (परब्रह्म परमेश्वर को छोड़कर) कभी भी व्याप्त नहीं हो सकतीं क्योंकि ऐसा होने पर स्वयं ब्रह्म स्वरूप परमेश्वर कहलाने लगेगा। नितान्त

असम्भव है। दूसरे शब्दों में परमेश्वर जिसको देने की कामना करते हों उनमें केवल आंशिक रूप ही प्रदान कर सकते हैं अन्यथा नहीं।

इन सब के अतिरिक्त १० (दस) प्रकार की अन्य सिद्धियाँ और भी हैं जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जाता है। यह सभी कठिन स्वाध्याय से प्राप्य हैं. और निरन्तर प्रयास एवं योगिक शक्ति को बढ़ा कर प्राप्त हो सकती हैं।

उर्मिमुक्त सिद्धिः—साधक जब अन्य भोगों की कामना का परित्याग रखते हुये परब्रह्म परमेश्वर में इतना अधिक लीन हो जावे कि उसको छः प्रकारकी उर्मियां छोड़ देवें अर्थात् साधक का बिल्कुल परित्याग कर देवें तो उर्मिमुक्त सिद्धि को प्राप्त कहा जाता है। यह छः प्रकार की उर्मियां भूख-प्यास, जन्म-मृत्यु, शोक-मोह हैं। इन उर्मियों के द्वारा परित्यक्त होकर वह साधक शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होता है।

दूर-श्रवणः— साधक जब इस का अनुभव एवं निरन्तर चिन्तन करता रहता है कि परमात्मा को आकाश आत्मा में भी श्रवण किया जा सकता है अर्थात् समष्टि आकाशात्माओं में रह कर भी ब्रह्म रूप का चिन्तन करता है और वह इस स्थिति को प्राप्त हो जाता कि आकाश में उपलब्ध हो सकने वाले जीवों एवं प्राणियों के सम्भाषण, उच्चारण इत्यादि को भी सुन सके और उसी अनुसार परब्रह्म परमात्मा का चिन्तन कर सके और आकाश की प्राणियों की बोली को समझ सके तो वह दूर श्रवण नामक सिद्धि को प्राप्त हुआ समझा जाता है। इस सिद्धि से बहुत दूर की वस्तु को सुन सकते हैं।

दूर-दर्शनः—संसार में प्रकाश प्रदान करने वाले महान् तेजस्वी एवं शक्ति युक्त सूर्य में अपनी दर्शन करने वाली शक्ति को समाविश करना ही दूर-दर्शन सिद्धि कहलाती है। परमब्रह्म परमात्मा का चिरस्मरण करते-करते सूर्य को अपने नेत्रों में संयुक्त करते हुये परब्रह्म परमात्मा में इतना अधिक लीन हो जाते हैं कि वह सारा संसारको अवलोकित कर सके अर्थात् दोनों के संयोग में अपने को मन ही इतना अधिक एकाग्रचित्त कर देवे कि उसकी दृष्टि सूक्ष्मता को प्राप्त होते हुये सारे संसार को अवलोकित कर ले। इसी को दूर-दर्शन सिद्धि कहते हैं।

मनोजवः—जब साधक में इतनी अधिक शक्ति का संचार होने लगे कि जहाँ चाहे वहाँ गमन जब चाहे करे और जब साधक परब्रह्म परमात्माके ध्यानमें लीन होकर इतना अधिक एकाग्रचित्त हो जावे कि जहाँ भी जाने का संकल्प करे उसी क्षण वह शारीरिक रूप से वहाँ पर पहुँच जाय और वास्तविक रूप से वह यह अनुभव (बिना कल्पना शक्ति के) करने लगे कि अमुक स्थान पर पहुँच गया है तो इस स्थिति में हम उसको मनोजव सिद्धि प्राप्त हुआ कहने लगते हैं।

रूप धारण:—जब साधक परमात्मा का ध्यान करते हुये इस बात का अनुभव करने लगे कि वह अमुक रूप धारण कर रहा है और शारीरिक रूप से वह अमुक रूप के अनुकूल ही हो जावे तो इसका अर्थ यह हुआ कि साधक ने अपने चित्त को परं ब्रह्म परमात्मा से संयुक्त कर दिया है।

परांग प्रवेश सिद्धिः— जब योगी अपनी शरीर से किसी अन्य शरीरांग में अर्थात् परांग में प्रवेश करने की सिद्धि को प्राप्त होता है, तो वह यह कल्पना करने लगता है कि पर ब्रह्म परमात्मा की अपार अलौकिक शक्ति के योग से वह जिस शरीर में प्रवेश करना चाहता है उसी के विषय में कल्पना करने लगता है। इस प्रकार की कल्पना करते ही साधक के प्राण वायु-रूपी स्वरूप में परिवर्तित होते चलते है और शनैः-शनैः वह कल्पित परांग में परब्रह्म परमात्मा के निरन्तर चिन्तन के साथ-साथ अपने चित्त को इस सीमा तक एकाग्र करता है कि अपनी देह को परित्यक्त करता हुआ कल्पित शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। इसी को परांग सिद्धि कहते है।

साधक को अंगप्रवेश हेतु पहले अपने प्राणों को वायु में परिवर्तित करके ऐड़ी से गुदा-द्वार को दबाना चाहिये तत्पश्चात् प्राणवायु को क्रमश: हृदय, वक्षस्थल कंठ और मस्तिष्क में ले जाकर एकाग्रचित्त करे फिर ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा उसे इस प्रकार संगठित करे कि छोड़ते ही मन चाहे परांगमें प्रवेश कर सके। ऐसा होने पर साधक अथवा योगी अपने पूर्व शरीरका परित्याग करके स्वतः ही परांग में प्रवेश कर जायगा।

सत्वमय स्वरूप सिद्धिः— जब योगी परमेश्वर के ध्यान में इतना अधिक लीन हो जाय कि उसको देव क्रीड़ास्थलों में विहार करने या विहारस्थलों में क्रीड़ा करना हो तो फिर परमात्मा के ध्यान में इतना अधिक लीन हो कर उपरोक्त क्रिया करे कि सत्वमय स्वरूप का चिन्तन ही उसको वशीभूत कर ले। ऐसा करने पर सत्व-गुणो से सम्पन्न सुर-सुन्दरियाँ विमानों द्वारा साधक के पास विचरण हेतु आ जावेंगी तब इसको हम सत्वमय स्वरूप सिद्धि युक्त समझते है।

संकल्प सिद्धिः— जब योगी किसी संकल्पबद्ध हो जाता है तो वह यौगिक क्रिया करके परमेश्वर-शक्ति को पराधीन कर लेता है। और अपने चित्त को इस सीमा तक एकाग्र करता है कि जिस समय वह जैसा भी संकल्प बद्ध होता है, वैसा ही सिद्ध होता है। और इस प्रकार कोई भी उस साधक की आज्ञा को टाल नहीं सकता है। संकल्प सिद्धि इतनी विशाल सिद्ध है कि जिस भाव में साधक संकल्प करता है उस को अपनी शक्ति से भी अतुलनीय शक्ति लगाकर कोई भी उसकी आज्ञा टाल नहीं सकता।

अदृष्ट विषयक सिद्धि:— जो योगी पर ब्रह्म परमात्मा के ध्यान में मग्न होकर परमात्मा के चित्त में इस सीमा तक चिन्तन करता है कि चिन्तन करते-करते उसकी बुद्धि जन्म, मृत्यु एवम् अन्य अदृष्ट विषयों को भी जानने लगती है, और शनैः-शनैः वर्त्तमान, भूत एवम् भविष्य की सारे रहस्य भी जान लेता है। जीवन से पूर्व जीवन के समय की एवम् मृत्युपरान्त की बातें भी परब्रह्म परमात्मा की भक्ति के प्रभाव से एकाग्रचित्त होकर पता लगा लेता है। इसी को अदृष्ट विषयक सिद्धि कहा जाता है।

शरीर परित्याग सिद्धि:— जब योगी संसार के विभिन्न संस्कारों का विषय भोग कर चुकता है और सांसारिक दुःख-सुख से निवृत होकर संसार को परित्याग करने की इच्छा करता है तो वह इस सीमा तक परमात्मा के ध्यान में लीन हो जाता है कि वह प्रभु की निरन्तर भक्ति भावना के साथ अपनी यौगिक क्रियाओं का अनुसरण करके परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हेतु निरन्तर चिन्तन करता हुआ समाधि को प्राप्त हो जाता है। ऐसी सिद्धि भी प्रत्येक योगी को सम्भव नहीं है। यह सबसे कठिन एवम् अन्तिम सिद्धि ही मनुष्य को योगी या साधक के रूप में अगले जन्म के लिये मोक्ष रूपी मार्ग की ओर प्रशस्त करने में सहायक एवं प्रेरणात्मक होती है। इस प्रकार का साधक जन्म अथवा मृत्यु में कभी भी यातानायें नहीं भुगतता है।

जो विचारवान होते है वे निरन्तर प्रभु भक्ति में लीन रहने वाले सद्कर्म करने वाले सत्य भाषी होते हैं एवं काम-क्रोध, लोभ, मद, मोह एवं अहंकार के द्वार से निकल चुके होते हैं और यौगिक एवं साधना क्रियाओं के द्वारा भक्ति एवं सिद्ध योग के द्वारा ईश्वर का मनन करते हुए सिद्धि का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। जो मनुष्य, योगी अथवा साधक बुद्धि रूपी वृक्ष में ठीक प्रकार से जल इत्यादि का अर्पण करते रहते हैं, जो व्यक्ति परब्रह्म परमात्मा को ही सर्वस्व मानते हुवे प्रभु का चिन्तन करते रहने के पश्चात् सिद्धियाँ करने का प्रयास करते हैं और योग धारण द्वारा प्राणायाम की अलौकिक शक्ति प्राप्त कर लेते है और जो प्राण, मन, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं वे ही जीवन-मुक्त कहलाते हैं।

योग, सांख्य और धर्म आदि सब ही योग साधन हैं। जन्म औषधि, तपस्या और मंत्रादि से भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु योग की सीमा सारूपता, आदि को प्राप्त करना, बिना प्रभु में चित्त लगाये उपरोक्त किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकती हैं। अतः हर क्षण साधक को प्रभु चिन्तन में लीन रहना चाहिए।

श्री सद्गुरुदेवजी द्वारा

व्यापक योग-प्रचार कार्य-क्रम

दिल्ली और आगरा का योग प्रचार कार्य-क्रम 'सिद्धयोग' के पिछले अंकमें सविस्तर प्रकाशित हो चुका है। आगराके कार्य-क्रम की पूर्णता के पश्चात् आनन्दकन्द श्री गुरुदेवजी ने एक दिन के लिये आश्रम की (देख-भाल के लिये) सवांई पदार्पण किया। ५ जनवरी १९७० ई० को सवांई आश्रम रहकर तथा वहां की कार्य-प्रणाली की देख-रेख करने के उपरांत आप ६ जनवरी ७० ई० को आगरा से पंजाब मेल द्वारा दतिया में अपने श्रद्धालु भक्तों के आग्रह पर योग-प्रचार के उद्देश्य से झाँसी पहुंचे। झाँसी जंकशन पर उनके प्रिय सत्संगियों की भारी भीड़ पहले से ही एकत्र थी। ट्रेन के स्टेशन पर पहुँचते ही गगन-भेदी जय ध्वनियों से प्लेटफार्म गूँज उठा। आगत श्रद्धालु सत्संगियों की भारी भीड़ ने श्री गुरुदेव जी का वहीं पूजन किया। फिर परम आह्लाद व उत्साह के साथ मंगल गीत गाते हुए वे श्री गुरुदेव जी को स्टेशन से बाहर लाये। बाहर 'दतिया सत्संग मण्डल' की ओर से श्री गुरुदेव जी को दतिया ले जाने के लिये सुगंधित पुष्प-मालाओं से सुशोभित एक कार मौजूद थी जिसमें श्री गुरुदेवजी जा विराजे। श्री गुरुदेव जी के साथ जाने वाले अन्य सत्संगियों के लिये भी एक जीप कार एवं अन्यान्य यातायात साधन उपलब्ध थे। पूर्व निश्चित व्यवस्था के अनुसार ६ जनवरी ७० ई० को सायं लगभग ६ बजे श्री गुरुदेव जी अपने सत्संगी ब्रह्मचारियों के साथ दतिया पधारे।

दतिया में भव्य स्वागत

दतिया पहुँचने पर स्टेशनरोड पर बाबू श्री शारदाशरण सक्सेना एडवोकेट के उद्यान में जिसका नामकरण एडवोकेट महोदय ने श्री गुरुदेवजी के नाम पर ही 'चन्द्रवाटिका' किया है कुछ देर के लिये ठहरे। तदुपरांत श्री गुरुदेव जी प्रवचनों के हेतु दतिया शहर की अग्रवाल धर्मशाला में गये। दतिया के साधकों का उत्साह देखने योग्य था। शहर के चौराहे पर श्री गुरुदेव जी के स्वागत का प्रबन्ध था। अतः चौराहे पर सत्संगियों की भारी भीड़ थी। यहां बेण्डबाजे के साथ स्वागत-गीत गाया गया, और शोभा-यात्रा आरम्भ हुई। मार्ग में प्रमुख स्थानों पर सुसज्जित मंगलमय आरतियों का प्रबन्ध था। सत्संगियों के भावुक हृदयों का यह दृश्य देखने योग्य था। पवित्र शोभा-यात्रा के साथ श्री गुरुदेव जी मार्ग के भिन्न-भिन्न स्थानों से होकर श्री बिहारी रोड

मित अग्रवाल धर्मशाला में ले जाये गये जहाँ उनके प्रवचन का कार्य-क्रम पहले से ही निश्चित किया गया था।

अग्रवाल धर्मशाला में ६ जनवरी ७० ई० से १२ जनवरी ७० ई० तक श्री गुरुदेव जी के हठयोगकी साधनाओंपर प्रवचन हुए। उन्होंने एक सप्ताह के अपने इस कार्यक्रम में हठयोग की, शांभवी,षण्मुखी और मुद्राओं और नाड़ी-शोधनभस्त्रिका आदि प्राणायाम को अत्यन्त ही सरल ढंग से समझाया। आनन्दकन्द श्री गुरुदेव जी ने यहाँ बतलाया कि जो अधिकारी व्यक्ति हठयोग की साधना द्वारा पहले अपने आपको मार लेता है, वह अचिन्त्य शक्ति हो जाता है और फिर वह मरणधर्मा जीव नहीं रहता।

'हठेन मृत एवा सौ मृतस्य मरणं कुतः।'

जो हठयोग के द्वारा अपने आप को मार लेता है, उसका संसार में फिर मरण नहीं होता यद्यपि दतिया का यह कार्यक्रम ६ जनवरी सन ७० से दि० १२ जनवरी ७० ई० तक था। किन्तु १४ जनवरी को मकर-संक्रान्ति होने के कारण दतिया के सत्सगियों ने अपने परम पूज्य श्री गुरुदेव जी को संक्रान्ति पूजन के निमित्त दो दिन और हठात् रोक लिया। कार्य-क्रम यद्यपि इस बार इतने संबद्ध रहे हैं कि (महाराजश्री) इन सब दिनों में कभी एक दिन के लिए भी खाली नहीं हो पाये। १३, १४ और १५ जनवरी ७० ई० के तीन दिन उन्होंने सवाई आश्रम में रह कर विश्राम के लिए रक्खे थे, किन्तु श्री गुरुदेव जी भी यह जानते ही थे कि दतिया शहर के उनके प्रिय सत्संगी बच्चे संक्रान्ति के बाद ही उनको बिदा करेंगे। वैसा ही हुआ भी अतः उक्त तिथियों में वे आश्रम न आ सके।

संक्रान्ति के दिन दतिया और झाँसी के सत्सगियों ने समवेत होकर पाद्य, अर्घ्य, स्नान एवं धूप, दीप नैवेद्य आदि से वेद पाठ द्वारा वैदिक विधि से श्री गुरुदेव जी का पूजन किया विविध प्रकार के गायन-आरती एवं स्तुतियाँ की गईं। पश्चात् उसी रात्रि को ८॥ बजे आगरा को जाने वाली पैसेन्जर गाड़ी से श्री गुरुदेव जी के आश्रम को लिये चलना पड़ा। बिदाई के समय भक्तों की भारी भीड़ के साथ श्री गुरुदेव जी दतिया स्टेशन पहुँचे। गाड़ी कुछ लेट थी, गुरुदेव जी ने अपने सत्संगी बालकों को कई बार आज्ञा दी कि वे लौट जायें, किन्तु वे लौट नहीं सके। ट्रेन के लेट हो जाने के कारण, ओस की घोर सर्दी में भी रात्रि के लगभग १० बजे तक दतिया स्टेशन पर ही खड़े रहे। दतिया से बिदाई पाकर श्री गुरुदेव जी आगरा पहुँचे। और आगरा से डाक्टर श्री ललित मोहन शर्मा की कार द्वारा प्रातः काल लगभग ७ बजे सवाई आश्रम जा पहुँचे। एक दिन आश्रम में निवास किया, तथा आश्रम के कार्यों का निरीक्षण किया।

कलकत्ता के लिये प्रस्थानः—

दूसरे दिन १६ जनवरी ७० ई० को अपने निश्चित कार्यक्रमानुसार परम पूज्य श्री

गुरुदेव जी योग प्रचार के निमित्त कलकत्ता को प्रस्थान किये। कालका मेल से चल पर इटावा, कानपुर, इलाहाबाद, मिरजापुर, एवं मुगलसराय आदि जंक्शन स्टेशन पर दर्शनोत्सुक सत्संगियों की भारी भीड़ मिलती रही। यद्यपि इन दिनों अनवरत कार्य-क्रमों में व्यस्त रहने के कारण श्री गुरुदेव जी किंचित परिश्रान्त एवं क्लान्त से प्रतीत होते थे, परन्तु फिर भी उनके उत्साह में किसी प्रकार की कमी नहीं थी। अत्यधिक सर्दी होने पर भी अपने सत्संगी बच्चों की भीड़-भाड़ को देख कर स्वयं ही प्लेट फार्म पर उतर आते थे—जिससे गाड़ी के यात्रियों को बीच में कष्ट न हो और सत्संगी लोग भी भीतर गाड़ी में चढ़ने की व्याकुलता से कष्ट न पायें। १७ जनवरी ७० ई० को प्रातः श्री गुरुदेव जी ठीक ८॥ बजे हवड़ा जंकशन पहुंच गये। हवड़ा जंकशन पर भी उनके सत्संगी बच्चे पहले से ही प्रतीक्षा में खड़े थे। उन सभी के भव्य स्वागत के बीच श्री गुरुदेव जी हरियाना भवन पहुंचे।

कलकत्ता में योग-प्रचार कार्य-क्रमः—

४० विवेकानन्द रोड, हरियाना भवन, में पूज्यपाद अनन्त श्री सद्गुरु देव के निवास का प्रबन्ध किया गया था। यह स्थान बहुत ही सुन्दर है और यहाँ पर सभी प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध है। हरियाना भवन, हरियाना प्रान्त की ओर से सभी की सुविधा के लिये बहुत ही सुन्दर ढंग से निर्मित किया गया है, जिसकी चार मंजिले है। श्री गुरुदेव जी का निवास तीसरे तल्ले में था और उनके प्रवचन का प्रबन्ध पहली मंजिल पर विशाल हाल में किया गया था। १६ जनवरी ७० ई० से २९ जनवरी ७० ई० तक यहाँ पर श्री गुरुदेव जी का नैत्यिक कार्य-क्रम नियमानुसार चला। यद्यपि उनका स्वास्थ्य इन दिनों सन्तोषजनक नहीं था, फिर भी उन्होंने अपने कार्य-क्रम को बहुत ही अच्छे ढंग से परिपूर्ण किया।

यद्यपि इस बार कलकत्ता का योग प्रचार कार्य-क्रम अन्य वर्षों की भांति बहुत उत्कृष्ट तो नहीं था, किन्तु फिर भी सुन्दर ही रहा। प्रातः काल ५ बजे से ७ बजे तक ध्यानाभ्यासियों की श्रेणी नियम से लगती थी। तदनन्तर श्री प्रभुजी की सामूहिक आरती-पूजन के पश्चात् ८ बजे से १० बजे तक शारीरिक चिकित्सा के निमित्त आने वाले व्यक्ति अपनी साधनाएं करते थे। शारीरिक चिकित्सा के निमित्त योग-साधन करने वाले सभी साधकों को लाभ हुये।

इस अल्प समय के कार्यक्रम में श्री गुरुदेव जी ने अपने भाषणों में लोगों को समझाया कि राजयोग की पुष्टि के लिये हठयोग की साधना बहुत ही आवश्यक है। जो साधक हठपूर्वक राजयोग की साधना करता है, वह अवश्य ही अपने चरमलक्ष्य को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करता है। कलकत्ता के इस कार्य-

क्रम के पश्चात् परम पूज्य श्री गुरुदेव जी इलाहाबाद आये, और यहाँ भी अपना योग प्रचार कार्यक्रम आपने सम्पन्न किया।

माघ मेला प्रयाग में:—

प्रति वर्ष प्रयाग का माघ मेला बाँध के दोनों ओर लगता था। किन्तु इस बार श्री गंगाजी ने अपने प्रवाह को एक दम बदल दिया। हर वर्ष तो वे प्रायः बाँध के नीचे ही एक या डेढ़ फर्लांग की दूरी पर बहा करती थीं। किन्तु अब की बार श्री गंगाजी का प्रवाह बिलकुल झूँसी के निकट ही आ लगा था। इस कारण माघ मेले में आनेवाले कल्पवासी लोगों का माघ-मेला पूर्णरूपेण गंगाजी के रेत में ही लगा हुआ था। हमारे श्री गुरुदेव जी का कैम्प बाँध से लगभग १ फर्लांग की दूरी पर नीचे की ओर लगा हुआ था। कैम्प में नैत्यिक आरती — पूजन, स्तुति—प्रार्थना के अतिरिक्त आगन्तुक सत्संगी भाई नैत्यिक ध्यानाभ्यासादि नियमों का क्रमशः पालन करते थे। यहाँ पर भी प्रातः ६ बजे से ११ बजे तक शारीरिक चिकित्सा के निमित्त आने वाले सभी लोगों के लिये चिकित्सा का कार्य-क्रम रहता था। श्री गुरुदेव जी ने अपने साथ के ब्रह्मचारियों की पृथक-पृथक ड्यूटियाँ चिकित्सा-विषयक कर्त्तव्य कर्म) लगा दी थीं। वे सभी लोग श्री गुरुदेव जी के आदेशानुसार साधना कार्य-क्रम को सुन्दर ढंग से नियमानुसार निभाते थे। हठयोग की साधना नेति, धौति, नौली, वस्ति आदि के लिये मिर्जापुर जिले के बरैनी ग्राम के निवासी श्री महेन्द्र नारायणसिंह बड़ी तत्परता और प्रेमके साथ आगन्तुक भाई-बहिनों को साधन सिखलाया करते थे। माघ मेला प्रयाग में यह कार्य क्रम लगभग १० दिन तक सुरुचिपूर्ण ढंग से चलता रहा। तीर्थराज प्रयाग की पावन भूमि में कितने सौभाग्यशाली नर-नारियों ने अपने जीवन को कृतार्थ करने के हेतु श्री सद्गुरुदेव भगवान से योग की दीक्षाएँ भी प्राप्त कीं। श्री सद्गुरुदेव द्वारा लिखित आश्रम की योग विषयक आध्यात्मिक पुस्तकें भी लोग चाव से क्रय करके पढ़ते हुये देखे गये।

यद्यपि मेले का शोर-गुल बहुत रहता था, किन्तु फिर भी श्रद्धालु सत्संगियों की बहुत प्रबल इच्छा जानकर श्री गुरुदेव जी अपने महत्वपूर्ण ज्ञान-गर्भित प्रवचनों द्वारा योग-मार्ग पर प्रति दिन विस्तार से प्रकाश डाला।

सम्पादकीय :—

दूसरे वर्ष की परि-समाप्ति

'सिद्धयोग' प्रस्तुत अङ्क के साथ अपने जीवन के दूसरे वर्ष की अवधि पूर्णकर रहा है करुणा-सागर अनन्त श्री सम्पन्न योगयोगेश्वर प्रभु जी की कृपा और अनन्त श्री सद्गुरुदेव जी के मार्ग-दर्शन का अवलम्बन पाकर ही उसके जीवन के यह दो वर्ष निर्विघ्न समाप्त हुए है तथा आगे भी 'सिद्धयोग' अपने ध्येय और लक्ष्य की प्राप्ति में इन्हीं दोनों अवलम्बों का बल पाकर अग्रसर होता रहेगा, ऐसी आशा है। 'सिद्धयोग' के शैशव को स्वस्थ और सबल बनाने में श्री सद्गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज को जो अतिरिक्त श्रम वहन करना पड़ता है उसी का परिणाम है कि उसके पाठकों का सीमा-क्षेत्र क्रमशः अधिक व्यापक और विस्तृत होता जा रहा है। योगाङ्कों पर प्रकाशित होने वाले उनके विशेष लेख अपनी अलग विशेषता लिये हुए होते हैं। उनका सुलझा हुआ दार्शनिक विवेचन योग के सम्बन्ध में पाठकोंके मन की अनेक दुरूह गुत्थियों को न केवल सहज ही सुलझा देता है अपितु साथ ही वह उन्हें योग-मार्ग को अपना लेने को प्रेरणा भी प्रदान करता है। एक और सबल सहयोग जो 'सिद्धयोग' को श्री गुरुदेव जी की कृपा से ही सुलभ होता रहा है वह है सुयोग्य विद्वान, लेखकों और सुकवियों की कृपा का सहयोग। सम्पादकीय विभाग की ओर से संयुक्त सम्पादक के नाते मैं अपना यह पावन कर्त्तव्य समझता हूँ कि उन सभी विद्वान लेखकों और सुकवियों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करूँ जिनकी श्रमशीला लेखनी से लिखी गई विचारपूर्ण सामग्री-प्रति मास 'सिद्धयोग' के कलेवर की श्री-वृद्धि करती रही है। यदि इन सबका सहयोग 'सिद्धयोग' को सुलभ न होता तो योग-मार्ग के प्रेमी पाठकों को उसकी उपयोगिता और उपादेयता भी न कुछ के बराबर ही रहती। हिन्दी-जगत में उत्तर भारत से प्रकाशित होने वाला 'सिद्धयोग' एकमात्र ऐसा पत्र है जो योग-दर्शन और योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही नहीं करता अपितु उसका मुख्य उद्देश्य है कि मनुष्य अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए, शरीर की स्वस्थता के लिए और चरित्र की निष्ठा तथा पवित्रता के लिए अधिक-से-अधिक यौगिक मार्ग को, योग को शिक्षाओं को आत्मसात करें। योगयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के व्यापक योग-प्रचार कार्य्य-क्रम भी इसी उद्देश्य से होते है। जिस दिन इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी वह दिन एक ऐसे मानव समाज के निर्माण का दिन होगा जो सद्गुण सम्पन्न और सर्व शक्ति-सम्पन्न होगा। जिसमें छल, कपट, दम्भ, ईर्षा, अहंकार, अभाव और अभियोगों की शून्यता होगी। कबआयेगा ऐसा दिन कहना कठिन है लेकिन'सिद्धयोग'और 'सिद्धयोग के संस्थापक' का यही व्रत है जिसे लेकर वे कर्म-क्षेत्र में उतरे है। भगवान चन्द्रशेखर बल दें ताकि यह दोनों अपने इस उद्देश्य में आप सबका सहयोग पाकर सफल मनोरथ हों।

—संयुक्त सम्पादक

सिद्धयोग-विशेषांक

अर्थात्

तृतीय वर्ष प्रवेशांक-विशेषांक

तिरंगे तथा इकरंगे चित्रों से शोभित

पृष्ठ संख्या सौ दुरंगा आकर्षक आवरण पृष्ठ

योग के सैद्धान्तिक लेखों, सन्तों के प्रेरणाप्रद चारु चरित्रों, कथाओं, कहानियों और सुकवियों की ओजस्वी कविताओं से परिपूर्ण

प्रभुजी की आगामी जयन्ती के पुण्य अवसर

पर

अप्रैल १९७० में प्रकाशित होगा।

इस अङ्क का अलग से मूल्य होगा दो रुपया

किन्तु

१० रु० भेजकर वार्षिक ग्राहक बनने वालों से

कोई अतिरिक्त मूल्य न लिया जायगा।

अतः जिन ग्राहकों का दूसरे वर्ष का शुल्क १२ वें अङ्क के साथ समाप्त हो रहा है उन्हें अपने तीसरे वर्ष का मूल्य १० रु० शीघ्र भेज देना चाहिए ताकि अलभ्य सामग्री वाला यह विशेषाङ्क उन्हें समय पर मिल सके। नये ग्राहकों को भी यह विशेषाङ्क उनके वार्षिक मूल्य में ही मिलेगा।

व्यवस्थापक—'सिद्धयोग' श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र

सवाई—आगरा।

अपूर्व-फल

लोहा जब तक तपाया जाता है, ... रहता है; लेकिन जब बाहर निकाल लि... काला पड़ जाता है। यही दशा सांसा... है। जब तक वे मन्दिरों में अथवा अच्छी ... बैठते है, तब तक उनमें धार्मिक विचार भी ... किन्तु जब वे उनसे अलग हो जाते हैं। तब ... धार्मिक विचारों को भूल जाते हैं।

× ×

बालक के हृदय का प्रेम पूर्ण और अखण्ड ... जब उसका विवाह हो जाता है, तब आधा प्रेम ... स्त्री की ओर लग जाता है। फिर जब उसके ब... जाते हैं तो चौथाई प्रेम उन बच्चों की ओर लग... है। बचा हुआ चौथाई पिता, माता मान, यश और अभिमान में बटा रहता है। ईश्वर ... लगने के लिये उसके पास प्रेम बचता ही नहीं। ... बालकपन से ही मनुष्य का अखण्ड प्रेम ईश्वर ... लगाया जाय तो वह उस पर प्रेम लगा सकता ... उसे (ईश्वर को) प्राप्त भी कर सकता है। ... पर ईश्वर की ओर प्रेम लगाना कठिन हो जा...

× ×

राई के दाने जब बँधी हुई पोटली से नीचे ... जाते हैं, तब उनका इकट्ठा करना कठिन हो... प्रकार जब मनुष्य का मन संसार की अनेक प्र... बातों में दौड़ता फिरता है, तब उसको रोकना ... लगाना सरल बात नहीं है।

श्री रामकृष्ण परमहंस

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई काली, ताजगंज-आ...

॥ श्री रामकृष्ण प्रभवे नमः ॥

योग प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्ध गुफा सवांई

का

वार्षिकोत्सव

अत्यधिक आकर्षक, लाभप्रद और कल्याणकारी कार्यक्रम

आइए-देखिए ! और लाभ-उठाइए !!

सर्व साधारण को विदित हो कि योग 'प्रशिक्षण केन्द्र' श्री सिद्धगुफा सवांई (एत्मादपुर) जिला आगरा का वार्षिक महोत्सव मिती चैत्र सुदी सप्तमी, अष्टमी, नवमी-वार-सोम, मंगल, बुध तदनुसार दिनाङ्क १३, १४ १५ अप्रैल १९७० ई० को बड़ी धूमधाम के साथ मनाना निश्चित हो चुका है।

श्री गुरुदेव जी इस उत्सव को गत वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष और भी अधिक आकर्षक व सफल बनाने का उत्कृष्ट प्रयत्न कररहे हैं। उत्सव में उच्चकोटि के विद्वानों के योग-सिद्धान्तों पर प्रवचन, सुन्दर गायन, उच्च-तम शास्त्रीय संगीत एवं अलौकिक आश्चर्यों का दिव्य प्रदर्शन आदि-श्रेष्ठतम् कार्यक्रम रहेंगे।

अतः श्री 'सिद्धयोग' के पाठकों, सत्संगी भाइयों तथा अन्य सभी योग-प्रेमी सज्जनों से नम्र निवेदन है कि उत्सव में पधार कर इस उच्च-तम् आत्म-कल्याणकारी सत्संग से लाभ उठावें तथा योग-विद्या की महानता को समझें।

निवेदक—

मंत्री, योग प्रशिक्षण केन्द्र

श्री 'सिद्ध गुफा' सवांई

(एत्मादपुर) जिला—आगरा

मूल्य-समाप्ति की सूचना :—

'सिद्धयोग' के ग्राहकों से निवेदन !

प्रस्तुत अंक 'सिद्धयोग' का १२ वाँ अंक है। इस अंक के साथ ही आपका वार्षिक शुल्क भी समाप्त हो जाता है। अतः आपसे नम्र निवेदन है कि उक्त सूचना के पढ़ते ही शीघ्रातिशीघ्र नये वर्ष के लिए अपना वार्षिक शुल्क दस रु० भेज दें एवं अपनी ग्राहक संख्या भी साथ में लिख दें, ताकि हमें आपका नाम-पता ढूंढनेमें कोई कठिनाई न हो। कदाचित् आप श्री राम-नवमी के महोत्सव पर सवाई आ रहे हों, तो श्री 'सिद्धयोग' कार्यालय में अपनी ग्राहक-संख्या बतलाकर शुल्क जमा करके रसीद प्राप्त कर लें और नये वर्ष का प्रवेशाङ्क भी कार्यालयसे हाथों-हाथ प्राप्त करलें। इसके अतिरिक्त दि० २५-४-७० ई० तक यदि किसी भी प्रकार से आपका वार्षिक शुल्क 'सिद्धयोग' कार्यालय को प्राप्त न हुआ तो आपकी प्रति दिनांक २५ अप्रैल ७० ई० के पश्चात् वी०पी० पार्सल द्वारा भेजी जायेगी।

अतः वी. पी. पहुँचनेपर आप छुड़ालें। कदाचित् ऐसा भी हो कि उधर आपने रुपये भेज दिये हों और इधर से वी. पी. पहुँच जावे, तो भी यथा-सम्भव आप वी.पी. वापस न करके, कोई नया ग्राहक तैयार करके वी.पी. छुड़वा दें। ऐसा करनेसे आप 'सिद्धयोग-प्रचार-योजना'में पुण्य-भागी होंगे और आपका कार्यालय वी० पी० के डाक-व्यय आदि की व्यर्थ हानि से बचेगा। इतने पर भी किसी विशेष कारण से यदि आप कदाचित् ग्राहक न रहना चाहें तो, अपना नाम-पता एवं ग्राहक संख्या लिखकर कार्यालय को सूचित करने का कष्ट करें, ताकि वी. पी. आदि भेजने के अपव्यय से बचा जा सके।

—व्यवस्थापक तथा प्रकाशक